458
9/52 458

सुदामाचरित

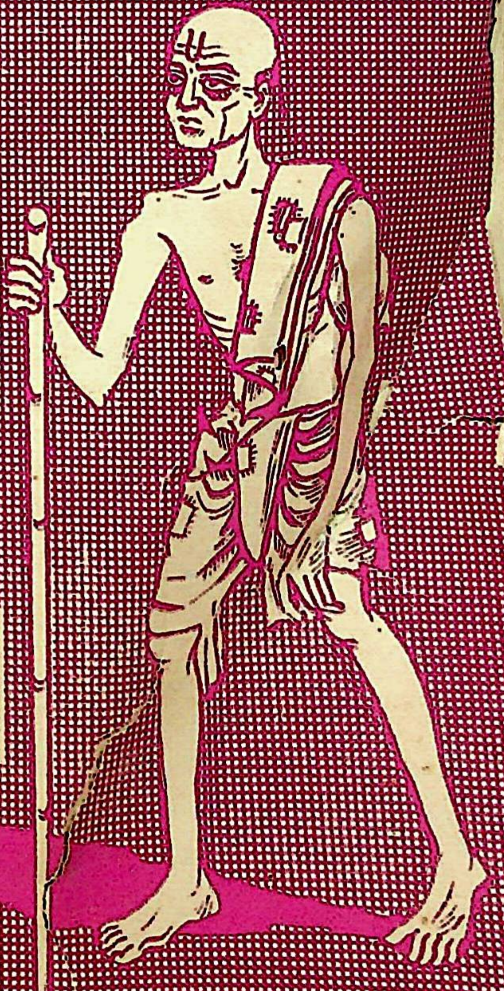

संपादक
विश्वनाथप्रसाद मिश्र

नरोत्तम कवि विरचित

सुदामाचरित

(विस्तृत भूमिका, पाठांतर, परिशिष्ट और टिप्पणियों सहित)

9/52

LIBRARY
No. 9/52
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS.

संपादक

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

संस्करण : द्वितीय परिशोधित

प्रतियाँ : २२००

मूल्य : सत्तर पैसे

रक्षाबंधन : २०२६

प्रकाशक
वाणी-वितान प्रकाशन
ब्रह्मनाल, वाराणसी–१

मुद्रक
बजरंगबली गुप्त 'विशारद'
आर्यावर्त प्रेस
जालपादेवी, वाराणसी—

निवेदन

सं० १९८४ में सबसे प्रथम सुदामाचरित का संपादन अपने गुरुदेव स्वर्गीय लाला भगवानदीनजी के आदेश से मैंने किया था। उन्होंने कृपापूर्वक पुस्तक पर अपना नाम भी देने की अनुमति दे दी थी। उसके प्रकाशित होने के अनंतर हिंदी में सुदामाचरित के कितने ही संस्करण प्रकाशित हुए। सबने उसी की अनुकृति की। पाठ उसी का लिया और टिप्पणियाँ उसी के सहारे दीं। अलंकार का निर्णय-निरूपण वहाँ जैसा था वैसा ही वे सब करते आए। शब्दांतर मात्र से अन्य सामग्री भी उसी से ली जाती रही। तदनंतर सुदामाचरित का दूसरा संस्करण कई हस्तलेखों से पाठांतर देकर और परिशिष्ट की योजना करके मैंने ४-५ वर्षों के अनंतर प्रकाशित कराया, जिसकी कई आवृत्तियाँ हो चुकी हैं। इधर सुदामाचरित के जितने संस्करण अन्य महापुरुषों ने प्रकाशित किए हैं सबमें इसी पाठांतरवाले संस्करण की अनुवृत्ति है। एक ने तो टिप्पणियाँ भी लगभग ज्यों की त्यों उठाकर रख दीं। भूमिका में अपनी शब्दावली करके तथ्य वहीं से रख दिए। यदि कहीं कोई छापे की अशुद्धि थी तो वह ज्यों की त्यों ले ली गई। इसके ७१ संख्यक छंद की तीसरी पंक्ति में छापे की अशुद्धि के कारण 'भौन बिलोकिबे को मन लोचत सोचत ही सब गाँव मझायो' में 'लोचत' के बदले मेरे संपादित संस्करण में 'लोचन' छप गया। सर्वत्र 'लोचन' ही पाठ है। यद्यपि टिप्पणी में 'लोचत' दिया है और उसका अर्थ 'तर्क-वितर्क करते हुए' वहाँ मौजूद है।

प्रस्तुत संस्करण मैंने अपने कई मित्रों-शिष्यों के कहने से प्रकाशित कराया है। इसमें यथास्थान नवीन ज्ञान के आधार पर कई विचारणीय विषय और तथ्य रखे गए हैं। प्रथम संस्करण की भूमिका का अपेक्षित अंश भी रखा गया है। टीका के स्थान पर टिप्पणी ही इसके लिए पर्याप्त समझी गई है। पाठ अपने संपादित द्वितीय संस्करण का ही रखा गया है। इधर सुदामाचरित

का नवीन वैज्ञानिक पद्धति पर पाठशोध करने से कई नूतन तथ्य प्रकट हुए हैं। उनका उपयोग इस संस्करण में नहीं किया गया। सामान्य जिज्ञासुओं के लिए उसका विशेष उपयोग भी नहीं है। अनुसंधित्सुओं के लिए वह विशेष लाभप्रद होगा। उसके प्रकाशित होने पर उससे अपेक्षित सहायता अगले किसी संस्करण में ली जाएगी। सुदामाचरित के जो संस्करण 'अर्थ' की दृष्टि से प्रकाशित कराते हैं उनके लिए यह संस्करण भी कुछ उलझन उत्पन्न करेगा। पाठशोधवाले संस्करण के प्रकाशित होने पर तो उनकी उलझनें दूनी से चौगुनी हो जाएँगी।

अपने संपादित संस्करण के इस प्रकार के साहसिक उपयोग के लिए भी मैं कृतज्ञ हूँ। साहित्य-क्षेत्र में किसी का कार्य परिनिष्ठित माना जा रहा है इससे बढ़कर साहित्य-सेवी के लिए और प्रतिफल क्या चाहिए। शब्द या वाणी का उपासक उसी पर अपनी दृष्टि रखता है वह अपनी अनर्थकारी विद्या से असंतुष्ट होकर सरस्वती का द्विज नहीं रह सकता और चाहे जिसका द्विज हो।

आशा और विश्वास है कि यह संस्करण जिज्ञासुओं और साहसिक उपभोक्ताओं दोनों के लिए लाभप्रद होगा।

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, १७
वाणी-वितान भवन
ब्रह्मनाल, वाराणसी

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

LIBRARY
No.........9/52
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS

भूमिका

काव्य

लोकोत्तर आनंददायी शब्दावली को 'काव्य' कहते हैं। अथवा इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि 'काव्य' लोकोत्तर आनंद का प्रतिरूप है, उसकी वीणा है। वीणा के 'मूर्त-आधार' तारों से जिस प्रकार मनोमोहक स्वर की तरंगें उठती हैं, ठीक उसी प्रकार काव्य भी अपने मूर्तआधार शब्द से लोकोत्तर आनंद ध्वनित करता है। पर केवल वचन काव्य नहीं हो सकते। काव्य में हृदय की आंतरिक भावनाएँ सोई रहती हैं, रसिक उन्हीं भावनाओं को जागरित करके अपूर्वानंद का भागी होता है। कहा जाता है कि जिसे ब्रह्मानंद मिल जाता है उसे सांसारिक पदार्थों से विरक्ति-सी हो जाती है। वह भूख-प्यास, शीतोष्ण आदि विकारों से मुक्त हो जाता है। ठीक इसी प्रकार काव्यानंद की तरंगों में तरंगायित होनेवाला भी संसार से विरक्त-सा हो जाता है, सांसारिक विकारों का प्रभाव उसे काव्यानंद से विरत नहीं कर सकता। भूख-प्यास आदि की उसे तनिक भी अपेक्षा नहीं रहती, वरंच वह प्राय: इन सबकी उपेक्षा ही किया करता है। इसीलिए काव्यानंद को 'ब्रह्मानंद सहोदर' कहा गया है। किंतु काव्यानंद को ब्रह्मानंद से भी बढ़कर कहा जा सकता है। क्योंकि ब्रह्मानंद तब प्राप्त होता है जब संसार से एकदम विरक्ति हो जाती है अर्थात् ब्रह्मानंद से और संसार से कोई सामंजस्य नहीं है, प्रत्युत विरोध है। पर काव्यानंद में ऐसी बात नहीं है। काव्यानंद में संसार का सामंजस्य भी है। लोकोत्तर आनंद का अनुभव करते हुए भी लोक-सामंजस्य की रक्षा करते रहना काव्यानंद के ही लिए संभाव्य है। काव्यानंद में हम ब्रह्मानंद भी लूट सकते हैं, पर ब्रह्मानंद में काव्यानंद का स्वप्न भी नहीं देख सकते।

लोकोत्तर आनंद का तात्पर्य यह नहीं कि काव्य-पाठक काव्य का मनन करते हुए इस लोक से निर्वासित हो जाता है अथवा वह भूल जाता है कि

हम संसार के जीव हैं, वरंच वह अपनी आत्मा को तदाकार कर डालता है अर्थात् काव्याध्यायी की आत्मा आनंद के रूप में परिणत हो जाती है। संसार में अपने ऊपर अथवा अपने संबंधी के ऊपर जब संकट या आपदा आती है तब उसमें लोग दुःख करते हैं और उनकी प्रसन्नता के समय प्रसन्नता का प्रदर्शन करते हैं, परंतु जिनसे उनका कोई संपर्क नहीं उनकी कारुणिक दशा पर अश्रुपात करना अथवा दयार्द्र होना और सुख के समय हर्ष सूचन करना एक प्रकार से असंभव होता है। दो-चार सहृदय व्यक्ति भले ही इसके अपवाद हों पर यह सांसारिक नियम है कि दूसरे के दुःख-सुख में योग देने के लिए कोई कटिबद्ध नहीं होता। पर स्मरण रखना चाहिए कि काव्यानंदी के लिए संसार का यह नियम अथवा बंधन कच्चे सूत्र से भी कच्चा है। जो दूसरे के दुःख-सुख में अपने हृदय को दुखी-सुखी बनाने का अभ्यासी नहीं है अथवा स्वभावतः जिसमें ऐसी सहृदयता नहीं है वह न तो काव्यानंद समझ सकता है और न किसी को समझा ही सकता है। काव्य पढ़कर हम दूसरे के दुःख और सुख से—जिससे हमारा किसी प्रकार का कोई संबंध नहीं है—दुःखी और सुखी होते हैं, इसी से काव्य को लोकोत्तर आनंददायी कहा गया है, क्योंकि लोक में ऐसा आनंद नहीं देखा जाता। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि काव्य में आनंद ही आनंद है, करुणा नहीं। काव्य में करुण-रस की जो कविताएँ होती हैं उनमें भी आनंद ही प्रच्छन्न रहता है। यदि वस्तुतः उसमें आनंद न हो तो लोग उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगें और उनका नाम भी न लें, पर देखा जाता है कि करुण-रस की कविता को लोग विशेष चाव से पढ़ते हैं। इसलिए स्पष्ट है कि उसमें आनंद है। मानव-हृदय की सहज प्रवृत्ति है कि वह आनंद को अधिक पसंद करता है, करुणा को नहीं। अतः यदि 'करुण' में सचमुच करुणा ही करुणा होती तो मानव-हृदय उसे ग्रहण ही न करता, अतएव काव्य की करुणा भी आनंद की जननी है। अथवा काव्य के अनोखे संसार में 'करुणा' भी 'आनंद' है।

कुछ लोग काव्य और पद्य को एक समझ लेते हैं। पर बात ऐसी नहीं। काव्य उच्चतम भावों की समष्टि है। पद्य उसका 'खोल' मात्र है। जिस काव्य में मानवता को अमरता की ओर अग्रसर करनेवाले भाव न हों केवल

खोल हीं खोल देख पड़ता हो वह 'पद्य' है। पद्य का कोई महत्त्व नहीं। पिंगल के अथवा और भो किसी विषय के ग्रंथ में उसके अंगों के लक्षण छंदोबद्ध लिखे रहते हैं। लक्षणों के वे छंद कविता नहीं पद्य कहलाएँगे। कविताएँ और काव्यानंद उसके उदाहरण में मिल सकते हैं। काव्य गद्य में, बोलचाल में भी कहा जा सकता है, पर पद्य में उसका कुछ अनोखा प्रभाव रहता है। यह तो कहा नहीं जा सकता कि पद्य के विना काव्य नहीं हो सकता, पर आनंद को सुरक्षित रखना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। संसार के सभी देशों के साहित्य ने काव्य के लिए पद्य का आश्रय लिया है। इसका कारण यही है कि काव्य और संगीत का बहुत घना संबंध है। गद्य संगीत को सुरक्षित नहीं रख सकता, इसी से काव्य के लिए पद्य आवश्यक हो गया। संगीतहीनता से उसका प्रभाव कम हो जाता है। अतः कविता और पद्य का समवाय-संबंध सदा अक्षुण्ण रहेगा।

कविता के द्वारा हम दो बातें कर सकते हैं। एक तो अपने भावों को सुचारु रूप से संघटित कर सकते हैं दूसरे श्रोताओं को अभूतपूर्व रूप से प्रभावित कर सकते हैं। किसी बात को सुचारु रूप से कहना ही उसके प्रभाव को बढ़ा देने के लिए अलम् हैं, फिर कविता का संसर्ग पाकर तो वह सोने में सुगंध की भाँति अत्युत्तम प्रभावोत्पादक हो जाती है। कविता में एक विशेषता और है। ऊँचे से ऊँचा और नीचे से नीचा सभी प्रकार का भाव इसमें सरलता और सुचारुता के साथ कहा जा सकता है। इसी से कविता का आदर सभी श्रेणी के लोग करते हैं और करेंगे। मूर्ख और पंडित दोनो कविता के प्रभाव से प्रभावित हो जाएँगे, यदि प्रसाद-गुण उसमें पूर्ण है। 'रामचरितमानस' इसका ज्वलंत उदाहरण है। प्रस्तुत पुस्तक 'सुदामाचरित' में भी कुछ ऐसी ही विशेषता है। मानव-हृदय के प्राकृतिक भाव इसमें बड़ी खूबी के साथ दर्शाए गए हैं। करुणा, आश्चर्य, हर्ष आदि का इसमें अद्भुत संमिश्रण है। मित्रता का जैसा आदर्श इसमें दर्शाया गया है वह गौरव की बात है।

मैत्री

संसार में 'मैत्री' मुख्य वस्तु है। मित्रहीन व्यक्ति का जीवन कोई जीवन नहीं। इसका कारण यह है कि मित्रहीन व्यक्ति के हृदय में उच्च भावों का उद्रेक नहीं होता, क्योंकि कदाचित् किसी मित्रहीन का हृदय किसी दीन-हीन को देखकर पिघल जाय और वह दैवात् कोई निःस्वार्थ कार्य कर बैठे। नहीं तो मित्रहीन मानवों में सहृदयता नहीं होती। जिसमें कुछ भी हृदय होगा वह अमित्र नहीं रह सकता। मैत्री प्रेम का एक भेद है और वह भी उच्च प्रेम का। पवित्र प्रेम की तीन श्रेणियाँ हैं। पहला उत्तम अथवा एकांगी प्रेम जिसमें प्रेमी प्रेम-पात्र से प्रेम करता है, पर इस बात का तनिक भी इच्छुक नहीं होता है कि प्रेम-पात्र मुझसे प्रेम करे। बादल के प्रति चातक का, जल के प्रति मीन का, दीपक के प्रति पतंग का प्रेम इसी कोटि का है। प्रेम की दूसरी श्रेणी अथवा मध्यम-प्रेम का नाम 'मैत्री' है। क्योंकि यह प्रेम व्यवहाराश्रित है। प्रेमी और प्रेम-पात्र जब परस्पर प्रेम-भाव बनाए रखते हैं तभी यह प्रेम जीवित रह सकता है। मैत्री में भी यही बात है, मित्र-द्वय जब प्रेम रखते हैं तभी 'मैत्री' स्थिर रहती है अन्यथा उसका अंत हो जाता है। प्रेम की तीसरी श्रेणी को अधम प्रेम कहते हैं। यह प्रेम स्वार्थमय होता है। स्वार्थ सभी उच्च भावनाओं को अपनी आग में भस्म कर देता है। इसी से प्रेम में स्वार्थपरता का समावेश होते ही 'प्रेम' का सत्यानास हो जाता है।

यद्यपि संसार में बिना मैत्री के काम नहीं चल सकता तथापि यह भी स्मरण रखना चाहिए कि मैत्री का निर्वाह करना कम कठिन नहीं। 'मैत्री' में स्वार्थ का थोड़ा-सा भी संपर्क हुआ अथवा मित्रों के हृदय में ही स्वार्थ के भाव जागरित हुए कि 'मैत्री' के उच्च पद से उनका पतन हो जाता है। मित्रता को सुरक्षित रखने के लिए मित्र से सदा एक सा व्यवहार रखना परमावश्यक है। इसके लिए संस्कृत में एक श्लोक है—

> ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यं वक्ति च पृच्छति।
> भुंक्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम्॥

इस प्रकार उक्त षट् व्यवहारों की रक्षा करना ही 'मैत्री' की रक्षा करना है। आदर्श मैत्री उसी का नाम है जो इन छहों बातों के अनुसार व्यवहृत हो और आदर्श मित्र वही है जो इससे पीछे पैर न रखे। भारत के इतिहास में यद्यपि अनेक मैत्रियों का वर्णन है पर श्रीकृष्ण-सुदामा की 'मैत्री' आदर्श मैत्री के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें श्रीकृष्ण का पक्ष बहुत ऊँचा है। सुदामा ऐसे दरिद्र महाराज द्वारकानाथ श्रीकृष्ण से मित्रता करने योग्य न थे। रहीम ने कहा ही है—'कहा सुदामा बापुरो कृस्न-मिताई-जोग' पर शैशवावस्था की मैत्री को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए श्रीकृष्ण ने उनसे उतना ही व्यवहार नहीं किया जितना एक मित्र के साथ अपने वैभवानुकूल करना योग्य था वरंच उससे भी बढ़कर सुदामा को अपने समकक्ष बना दिया। 'नरोत्तम' कवि ने लिखा है—'द्वारिका तें सरस सुदामा-पुर ह्वै रह्यो'। यह मित्रता की सबसे ऊँची श्रेणी है। सुदामा की मैत्री की रक्षा के लिए श्रीकृष्ण के लिए इतना ही उचित था कि वे उनका राजसी स्वागत करते और इतना धन दे देते कि वे अपना जीवन-निर्वाह कर सकते, पर श्रीकृष्ण ने उन्हें महाराजाधिराज से बढ़कर कर दिया। सुदामा की पहली दशा और पिछली दशा में आकाश-पाताल का अंतर हो गया। कवि ने उनकी दोनो दशाओं की तुलना यों की है—

कै वह टूटी सी छानी हुती कहँ कंचन के सब धाम सुहावत।
कै पग मैं पनहीं न हुती कहँ लै गजराजहिं ठाढ़े महावत।
भूमि कठोर पै रात कटै कहँ कंचन-सेज पै नींद न आवत।
कै जुरतो नहिं कोदो सवाँ प्रभु के परताप तें दाख न भावत॥

सुदामा यद्यपि दरिद्र थे पर मैत्री की बातें नहीं भूले थे। वस्तुतः जो मित्रता का मूल्य ही नहीं समझता उससे मित्रता करना भी मूर्खता है। मित्रता के षड्गुणों से सुदामा विशेष परिचित थे। मित्र जैसा स्वागत-सत्कार करता है उसका भी वैसा ही स्वागत-सत्कार करना नीति है। पर सुदामा के लिए यह असंभव था। श्रीकृष्ण सुदामा का सर्वोत्तम स्वागत चुटकी बजाते कर सकते थे पर यदि श्रीकृष्ण सुदामा के यहाँ पधारते तो वे कुछ भी करने में असमर्थ थे। इसीलिए वे श्रीकृष्ण की मैत्री जागरित करना

नहीं चाहते थे। उन्होंने पत्नी को जो उत्तर दिया उसमें इसकी ओर भी उसका ध्यान आकृष्ट किया और इस प्रकार उसे शांत कर देने का विचार किया, पर वह चुप नहीं हुई—

तैं तो कही नीकी सुनि बात हित ही की,
यही रीति मितई की नित प्रीति सरसाइए।
मित्र के मिले तें चित्त चाहिए परसपर,
मित्र के जौ जेंइए तो आपहू जेमाइए।
वे हैं महाराज जोरि बैठत समाज भूप,
तहाँ यहि रूप जाइ कहा सकुचाइए।
सुख-दुख करि दिन काटे ही बनैंगे भूलि,
बिपति परे पै द्वार मित्र के न जाइए॥

श्रीकृष्ण अवतार माने जाते हैं। यदि उन्हें अवतार की भावना से न देखकर मनुष्य की भावना से देखें तो मानव-दृष्टि से भी सुदामा की मित्रता के कारण उसकी दरिद्रता को इस प्रकार दूर करना देवत्व में ही परिगणित होगा। वस्तुतः मनुष्य का शारीरिक परिवर्तन होकर उसमें देवत्व की स्थापना नहीं होती, वरंच उसके मानसिक भावों की उच्चता, उसके आचरणों की पूतता और सच्ची मित्रता ही उसे देवतुल्य करने में समर्थ होता है। देवत्व किसी के मानने से नहीं आता। जिस व्यक्ति में उक्त बातों का समावेश हुआ वह स्वयम् दूसरों को अपने समक्ष नत-मस्तक करा लेने में समर्थ हो जाता है। उसके मुखमंडल पर स्वर्गीय तेज की झलक आ जाती है।

श्रीकृष्ण की यह मैत्री आदर्श और अद्वितीय मैत्री के नाम से प्रसिद्ध है। इसका एक कारण है। प्रायः 'प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं' वाली लोकोक्ति सर्वांश में सत्य देखी जाती है। यदि किसी प्रकार के दवाव या लोक-लज्जा वश किसी ने मित्रता को वनाए रखने का स्वाँग किया भी तो अपने मित्र के स्वागतार्थ स्वयम् उतना ही चिंताग्रस्त नहीं होता जितना होना चाहिए; वरंच महाराज और धनाढ्य लोग अपने सेवकों को ही सत्कार भार सौंप देते हैं। जब वे स्वयम् दासों के ही भरोसे रहते हैं तब दासों के ऊपर मित्र के सत्कार का भार डाल देना उनके लिए स्वाभाविक ही है और किसी अंश

में इसे भी मित्रता का उचित व्यवहार मान लिया जा सकता है। पर दासों के होते हुए भी स्वयम् अपने हाथों से दासों का कार्य करना, प्रतिपल मित्र को प्रसन्न-चित्त और कष्ट से परे रखने के लिए सावधान रहना, मित्रता की बड़ी ऊँची कल्पना है। द्वारकाधीश श्रीकृष्ण की मित्रता का आदर्श संसार को चकित कर देनेवाला है—

ऐसे बेहाल बेवाइन तें पग कंटक-जाल लगे पुनि जोए।
हाय सखा दुख पायो महा तुम आए इतै न किते दिन खोए।
देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिकै करुनानिधि रोए।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं नैनन के जल सों पग धोए॥

सुदामा श्रीकृष्ण का वैभव देखकर बड़े संकट में पड़ गए। यद्यपि भेंट के लिए वे घर से 'सावाँ' के पाव भर चावल लेकर चले थे, पर जहाँ रत्नों और जवाहरों की भेंट दी जाती हो वहाँ चावलों को उपहार-स्वरूप भेंट करने में हिचकते ही रहे। उन्होंने सोचा कि इनको किसी प्रकार छिपाए रखना ही उचित है, पर श्रीकृष्ण की पैनी दृष्टि से भला चावलों की वह 'पोटली' कैसे छिप सकती थी। उन्होंने लक्ष्य कर लिया और सव्यंग्य बोले—

आगे चना गुरु-मातु दए ते लए तुम चाबि हमैं नहिं दीने।
स्याम कही मुसकाय सुदामा सों 'चोरी की बानि मैं हौ जु प्रबीने।
पोटरी कांख में चाँपि रहे तुम खोलत नाहिं सुधा रस भीने।
पाछिली बानि अजौं न तजी तुम तैसेइ भाभी के तंदुल कीने'॥

क्या ये बातें किसी महाराज और दरिद्र के बीच होती जान पड़ती हैं। मित्रता की कैसी व्यंग्यपूर्ण बातें हैं। गुरकुल में अध्ययन करते समय सुदामा गुरु-माता के दिए जो चने अकेले उड़ा गए थे श्रीकृष्ण को उनकी याद अब तक है और मित्रता के नाते इस समय के चावलों की चोरी और चनों की पुरानी चोरी का अभियोग लगाकर सुदामा को चोर बना डालना भी सरस कल्पना है। यह अभियोग सिद्ध भी हो गया। देखिए—

खोलत सकुचत गाठरी, चितवत हरि की ओर।
जीरन पट फटि छुटि परे, बिथरि गए तेहि ठोर॥

चावलों के बिखर जाने पर यदि कोई दूसरा होता तो किसी पात्र में भरवाकर रखवा देता, पर श्रीकृष्ण ने ऐसा नहीं किया। ऐसा करने से उनकी मित्रता में वट्टा लगने की संभावना थी। उन्होंने उनमें से मुट्ठी भर-भरकर 'फंका लगाना' आरंभ कर दिया। सुदामा और वहाँ के लोग भी भौचके रह गए।

यद्यपि सुदामा को श्रीकृष्ण ऐसा मित्र मिला था और वे स्वयम् भी मैत्री की नीति से परिचित थे तथापि वे श्रीकृष्ण की चालों को समझने में अक्षम थे और साथ ही कुछ क्षुब्ध हृदयवाले व्यक्ति थे। श्रीकृष्ण ने चलते समय उन्हें कुछ नहीं दिया, पर मित्र जिस अभिप्राय से आया है उसकी पूर्ति के लिए उनके घर का समाचार परोक्ष-रूप से मँगाकर उसे महाराजों के भवन-सा सज्जित करा दिया। सुदामा श्रीकृष्ण के विरोधाभास को नहीं समझ सके। वस्तुतः सुदामा कोरे ब्राह्मण थे। यदि ऐसा न होता तो वे श्रीकृष्ण के समान मित्र पाकर जितने दिनों क्लेश में रहे न रहते। उनकी स्त्री ने अलबत्त श्रीकृष्ण की प्रकृति का ठीक अनुमान लगा लिया था। जब सुदामा द्वारका से चलने लगे तब श्रीकृष्ण के कुछ न देने पर क्षुब्ध हो गए—

घर-घर कर ओड़त फिरे तनक दही के काज।
कहा भयो जो अब भयो हरि को राज-समाज॥

कोरा ब्राह्मण हरि की विशेषता, उनकी चतुरता और उनकी आदर्श मित्रता क्या समझे। उसने समझा था कि पत्नी कह रही है तो श्रीकृष्ण के यहाँ चले ही चलें, सौ-पचास दे ही देंगे अथवा कुछ मासिक वृत्ति ही बाँध देंगे। पर यहाँ एक पैसे की भी प्राप्ति नहीं हुई। सुदामा ने मनोवैज्ञानिक कल्पना की। पुराना दही का चोर भला क्या देगा। राज्य मिलने से स्वभाव क्या बदलेगा।

पर श्रीकृष्ण ने मैत्री का अच्छा निर्वाह किया और संसार को इसका अनुकरण करने की शिक्षा दी।

समालोचना

समालोचना में भावपक्ष और कलापक्ष का विचार होता है। काव्य में अनुभूति और उस अनुभूति की चारुतापूर्ण अभिव्यक्ति होती है। काव्य के

लिए दोनो अपेक्षित हैं। केवल अनुभूति और केवल चारुत्व से पूर्णता नहीं आ सकती।

भाव—जिस भाव को और जिस वस्तु को मानव-समाज अथवा संसार में जैसा देखा जाए उसका वैसा ही वर्णन कर देना कविता का कौशल है। ऐसा करना सरल नहीं। किसी भाव या किसी वस्तु का यथातथ्य व्यंजन या वर्णन कविता के माध्यम से ही सुगम है। किसी दुःखपूर्ण स्थिति को देख-सुनकर किसी के मन में कैसे भाव उठ सकते हैं अथवा किसी अवसर पर कैसे भावों का व्यंजन आवश्यक है, कवि को इन सबका ज्ञाता होना अनिवार्य है। ऐसा अधिक अनुभव और अनुशीलन से ही संभव है। जो कवि अनुभवहीन होगा वह अपने कार्य में सफल न हो सकेगा।

हिंदी के प्राचीन कवियों में से बहुतों ने भाव की स्वाभाविकता का भली भाँति रक्षण किया है। तुलसीदास, सूर, केशव, विहारी, घनआनंद आदि में ऐसी स्थिति विशेष रूप से पाई जाती है। 'सुदामाचरित' में भी स्वाभाविकता पर पूरा ध्यान रखा गया है। यों तो पुस्तक भर में स्वाभाविकता के दर्शन होते हैं, फिर भी सुदामा और उनकी स्त्री के वार्तालाप एवम् श्रीकृष्ण और सुदामा की भेंट में भावों की स्वाभाविकता का जैसा रूप है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

एकाध उदाहरण लीजिए। संसार में धन और ऐश्वर्य का मिलना कठिन अवश्य है, पर यदि किसी के पास ये हैं और इनका अपव्यय हो रहा है या ये ईश्वर-विमुखता के मूल हो रहे हैं तो इनके रहने से न रहना ही अच्छा है। संभव है धन और ऐश्वर्य से अच्छी अच्छी वस्तुएँ प्राप्त हो जायँ, पर ये सब सुख और शांति के द्वार नहीं हैं। यदि सच पूछा जाय तो धन और ऐश्वर्य से दुःख और अशांति होना ही विशेष संभव है, अथवा ये ही इनके द्वार हैं। यही कारण है कि मनीषी दारिद्रय को ही अच्छा मानते हैं। दरिद्र कम से कम ईश्वर को तो नहीं भूलता। सुदामा यही कहते हैं—

दीनदयाल को ऐसोई द्वार है दीनन की सुधि लेत सदाई।
द्रौपदी तें गज तें प्रहलाद तें जानि परी न बिलंब लगाई॥
याही तें भावत मो मन दीनता जो निबहै निबही जस आई।
जो ब्रजराज सों प्रीति नहीं केहि काज सुरेसहु की ठकुराई॥

इसमें सुदामा ने जो कहा है वह प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो का द्वार है। इस पुस्तक में आधे से अधिक छंद ऐसे ही भावपूर्ण हैं। यदि भावों की दृष्टि से ही विचार किया जाय तो पुस्तक उच्चकोटि की है। लेखक ने विषय ऐसा चुना है कि इसमें भावों के विस्तार का पर्याप्त अवकाश है। इतनी छोटी पुस्तक में इतनी सुंदरता के साथ भावों का निर्वाह और संघटन कवि का पांडित्य और कौशल प्रदर्शित करने के लिए अलम् हैं।

भाषा—भाषा के तीन गुण कहे गए हैं—ओज, माधुर्य और प्रसाद। ओज-गुण वीर-रस ऐसे उग्र भावोत्तेजक रसों की कविता में पाया जाता है। माधुर्य शृंगार आदि कोमल भावोद्बोधक रसों में मिलता है। प्रसाद गुण प्रायः सब प्रकार की कविता के लिए आवश्यक है। प्रेम आदि कोमल भावों में इन दो गुणों की अनिवार्य अपेक्षा है। कोमल वर्णों से बने रमणीय शब्दों के प्रयोग से भाषा में माधुर्य आता है। प्रसाद-गुण को भाषा का सारल्य कह सकते हैं। उक्त दोनो गुण इस पुस्तक में विशेष हैं। हिंदी-साहित्य में सूर और तुलसी की कविता में ये दोनो गुण विशेष रूप से पाए जाते हैं। यहाँ देखिए —

लोचन-कमल दुखमोचन तिलक भाल,
स्रवननि कुंडल मुकुट धरे माथ हैं।
ओढ़े पीत-बसन गरे मैं बैजयंती माल,
संख चक्र गदा और पद्म लिये हाथ हैं॥
कहत नरोत्तम संदीपनि गुरु के पास,
तुम ही कहत हम पढ़े एक साथ हैं।
द्वारिका के गए हरि दारिद हरैंगे पिय,
द्वारिका के नाथ वे अनाथन के नाथ हैं॥

द्वित्व वर्ण, टवर्ग, रेफ, श, ष आदि के त्याग से भाषा में चिकनाहट आ जाती हैं। व्रजभाषा में यही तो विशेषता है कि वह शब्दों की कटुता को दूर कर देती है। इसमें द्वित्व वर्ण सरल हो जाते हैं, रेफ ( ) 'र' हो जाता

है, 'श' का रूप 'स' हो जाता है। इन परिवर्तनों से भाषा में माधुर्य आना स्वाभाविक है, क्योंकि जिह्वा को फिर शब्दों के उच्चारण में कठिनाई नहीं होती। खड़ीबोली में खड़ापन होता है, शब्द व्रजभाषा की भाँति छंद में सुकुमार होकर नहीं बैठ पाते।

प्रस्तुत पुस्तक की भाषा व्रजभाषा है। फिर भी प्रयोग कुछ अन्य प्रदेशों के भी इसमें मिलते हैं। व्रजभाषा में जिन-जिन कवियों ने कविता की है सभी की कविता में अन्य भाषाओं का संमिश्रण है। शुद्ध व्रजभाषा की कविता सूर की भी नहीं है। घनआनंद और रसखानि की भाषा शुद्ध व्रज-भाषा है। नरोत्तम कवि ने तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक किया है। तद्भव शब्दों के प्रयोग का स्थान उसके अनंतर है। अर्द्धतत्सम शब्द भी तद्भवों के समान ही प्रयुक्त हुए हैं। ठेठ शब्दों का प्रयोग कम है। उदाहरण लीजिए— तत्सम—लोचन, ललाट, द्वारका, सुवर्णमयी, चतुरानन आदि। तद्भव— गाँठरी (ग्रंथि), काँख (कक्ष), कोदो (कंदन्न), पैज (प्रतिज्ञा), बिरधापन (वृद्धता) आदि। अर्द्धतत्सम—भौन (भवन), धीरज (धैर्य), सहस (सहस्र), अटा (अट्ट), दारिद (दारिद्र्य) आदि। ठेठ—लढ़ा, चाली, पछावरि, कनावड़ो, झगा आदि। अरबी और फारसी के भी शब्द इन्होंने प्रयुक्त किए हैं, पर बहुत कम; जैसे—महल, बाग, बकसै, दरबार, हजार, पानदान, रेशम आदि।

भाषा मुहावरेदार है। व्रज के मुहावरों का प्रयोग इन्होंने अच्छा किया है; जैसे—सिद्धि करना (प्रस्थान करना), सिद्ध होना (भोजन पक जाना), कर ओड़ना (हाथ फैलाना, माँगना), कनावड़ो होना (उपकृत होना), हृदय खखेटना (मन में शंका होना) आदि। इन्होंने शब्दों को विकृत नहीं किया है। शब्द प्रायः अपने प्रकृत रूप में ही मिलते हैं। फिर भी तुकांत में आवश्यकता पड़ने पर इन्हें दो एक स्थान पर शब्द को कुछ विकृत कर देना पड़ा है। जैसे—मितई (मित्रई) मित्रता, सामा (सामान) आदि।

भाषा-संबंधी तत्त्वों पर विचार करने पर इनकी भाषा परिमार्जित और प्रौढ़ प्रमाणित होती है। हिंदी-साहित्य में ऐसी बढ़िया भाषा लिखनेवाले

कम कवि हैं। सूर, तुलसीदास और रसखानि की कविता में ही ऐसी प्रसादपूर्ण स्फीत भाषा मिलेगी।

रस—लोकोत्तर आनंद की संज्ञा 'रस' है। साहित्य में सामान्यतः नौ रस माने गए हैं—शृंगार, वीर, शांत, अद्भुत, हास्य, वीभत्स, रौद्र, भयानक और करुण। प्रत्येक रस के ४ अवयव हैं—स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव। स्थायी भाव—जो आद्यंत स्थायी रहे। विभाव—जिन पर रस अवलंबित हो और जिनके कारण उद्दीप्त हो। अनुभाव—जिनसे रस का प्रभाव पड़ना लक्षित हो जाय। संचारी भाव—जो जल-तरंगवत् 'रस' को बढ़ाकर लुप्त हो जायँ। विभाव के दो भेद हैं—आलंबन और उद्दीपन। आलंबन के भी दो पक्ष हैं—एक आलंबन पक्ष, दूसरा आश्रय पक्ष। जहाँ स्थायी भाव आदि चारो अवयव नियोजित होते हैं वहाँ रस का पूर्ण-परिपाक माना जाता है। नरोत्तम कवि की इस पुस्तक में रस का परिपाक बहुत उत्तम है।

यद्यपि रसों की संख्या नौ ही मानी गई, पर आगे चलकर यह अनुभव किया गया कि रसों की संख्या में आधिक्य अपेक्षित है। साहित्य-दर्पण में 'वत्सल' नामक दसवें रस का उल्लेख किया गया है। भक्ति-संप्रदाय में उपासना के जो पाँच भाव माने जाते हैं—शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और कांत या माधुर्य ये पाँचो ही रसस्थिति तक पहुँचने-वाले हैं। शांत रस साहित्य में, श्रव्य काव्य में गृहीत है। नाटक में या दृश्य काव्य में वह विशेष कारणों से नहीं माना जाता। भक्ति में कांत या माधुर्य वही है जो साहित्य में शृंगार के नाम से प्रसिद्ध है। भगवद्विषयक दांपत्य रति होने के कारण वह लौकिक कटु रति से अलौकिक होने से माधुर्य रति कहलाती है। इसी से भगवद्विषयक दांपत्य-रति से परिपुष्ट रस का नाम मधुर रस रखा गया है। साहित्य का शृंगार श्यामवर्ण माना जाता है लौकिक या अदिव्य होने से, पर भक्ति के मधुर रस का वर्ण उज्ज्वल है। वह उज्ज्वल रस भी कहा जाता है दिव्य होने से। वात्सल्य भाव से वत्सल रस साहित्यपरंपरा में स्वीकृत हो चुका है। साहित्य में दास्य और सख्य भावों से दास्य और सख्य रस की भी स्वीकृति होनी चाहिए। प्रेम

या रति के विविध रूपों से विविध प्रकार के परिपाक के कारण उनमें नामांतर होने से सरलता और सुबोधता होती है। तुलसीदास की विनय-पत्रिका तथा उनके मानस में दास्य रस स्पष्ट दिखाई देता है। हिंदी के आधुनिक युग में राष्ट्रीय कविता के नाम से जो प्रचुर रचना हुई उसमें अधिकतर दास्य रस की ही व्यंजना प्रतीत होती है। मित्र की सहायता करने, उसके लिए सर्वस्व निछावर कर देने के जो वर्णन हैं उनमें इसी प्रकार सख्य रस की प्रसक्ति दिखाई देती है। प्रस्तुत सुदामाचरित में सख्य रस मानना इसी से उचित प्रतीत होता है। सुदामा आलंबन, श्रीकृष्ण आश्रय हैं। 'हाय वेहाल वेवाइन सों' प्रतीक वाले सवैये में श्रीकृष्ण की सुदामा के प्रति रति ही स्थायी है। अतः वहाँ विषाद संचारी भाव मानना पड़ेगा। अश्रु आदि उनके अनुभाव हैं।

उक्त सवैये में 'करुण रस' मानना ठीक न होगा। 'करुण रस' के लिए प्रिय का दुःख आधार हो सकता है, पर उसका देशांतर में होना भी अपेक्षित है। 'करुण रस' के लिए प्रिय का देशांतर आदि से अभाव होना चाहिए। सुदामा के दुःख पर दुःख प्रकट करने मात्र से इसे 'करुण रस' नहीं कह सकते। यहाँ मूल या स्थायी भाव रति है। यदि सुदामा श्रीकृष्ण के मित्र न होकर कोई और होते तो करुण रस के लिए पूरा अवकाश होता। इसी प्रकार श्रीकृष्ण की दानवीरता के कारण इसे वीर रस की रचना भी नहीं कह सकते। दानवीरता एक तो तब मानी जानी चाहिए जब किसी को दान करने पर कुछ संकटों का सामना करना पड़े। ऐसा इसमें वर्णित नहीं है। अतः जो उत्साह श्रीकृष्ण ने सुदामा को संपन्न करने में दिखाया वह भी उनकी सखाविषयक रति का अंग है अर्थात् वह उत्साह सख्य स्थायी भाव का संचारी मात्र है। यों इस पुस्तक के पढ़ने के अनंतर भगवच्चरणारविंदों में भक्ति के जागरण के कारण भक्त इसमें चरम रस भक्ति रस मान सकते हैं। पर उससे कोई विरोध नहीं पड़ता। उसका नाम सख्य भक्ति रस होगा।

अतः अंगी रस यहाँ पर सख्य रस ही है। अंग रूप में अन्य रस या स्थायी भाव माने जा सकते हैं। द्वारका के महलों को देखकर आश्चर्य-चकित

होने में अद्भुत रस है। श्रीकृष्ण पर सुदामा के क्रोध करने में रौद्र रस नहीं है। क्योंकि उन्होंने शाप देते-देते अपने को रोक लिया। यह प्रतिबंध केवल भाव की व्यंजना तक ही क्रोध या रोष को ले जाता है। 'आगे चना गुरु-मातु दए' प्रतीक वाले छंद में भी हास्य रस न होकर 'हास' भाव मात्र है। क्योंकि वह भी सख्य रति का अंग होकर आया है। पुस्तक में विविध कोमल भावों की प्रसंगानुकूल अभिव्यक्ति स्थान-स्थान पर की गई है। पुस्तक के उपसंहार में सुदामा और उनकी पत्नी के प्रेमपूर्ण वार्तालाप में शृंगार रस मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। पर वह भी सख्य रस का अंग ही होगा

ध्वनि—'ध्वनि' होने से कविता उत्तम होती है। शब्द की तीन शक्तियाँ कही गई हैं। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। काव्य में जो शब्द प्रयुक्त होते हैं उनके इन शक्तियों के द्वारा तीन प्रकार के अर्थ होते हैं। कोश, व्याकरण आदि के सहारे शब्द का जो पहले मुख्य अर्थ सामने आता है वह अभिधा शक्ति के द्वारा। इस अर्थ को मुख्यार्थ, वाच्यार्थ और अभिधेयार्थ कहते हैं। कभी-कभी किसी प्रसंग में मुख्यार्थ या वाच्यार्थ के आ जाने पर भी प्रासंगिक प्रयोजनीय अर्थ की उपलब्धि नहीं होती। जैसे, किसी ने कहा कि 'दो घरों में झगड़ा है।' यहाँ 'घर' का वाच्यार्थ मिट्टी, ईंट-पत्थर आदि से बना हुआ रहने का स्थान है। पर वह जड़ स्थान किसी से झगड़ा क्या करेगा। इसलिए घर का अर्थ 'घरवाले व्यक्ति' करना पड़ता है। यह दूसरा अर्थ लक्ष्यार्थ कहलाता है और लक्षणा-शक्ति से यह अर्थ निकलता है। लक्ष्यार्थ का वाच्यार्थ से कोई न कोई संबंध रहता है। यहाँ आधार-आधेय संबंध है। घर आधार है और रहनेवाले व्यक्ति आधेय हैं। यहाँ व्यवहार तो आधार का है पर अर्थ आधेय है। यदि मुख्यार्थ में बाधा न होती तो दूसरा अर्थ न करना पड़ता। अतः लक्षणा तभी होती है जब मुख्यार्थ होने में बाधा हो। लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ से संबंध हो। साथ ही ऐसा कहने में प्रयोजन भी हो। यहाँ 'घर' कहने में प्रयोजन यह है कि एक घर के सभी लोगों से दूसरे घर के सभी से झगड़ा है। घरवाले लोग न कहकर घर कह देने से थोड़े में ही काम चल गया। यहाँ मुख्यार्थ तो अभिधा शक्ति से लगा और 'घरवाले व्यक्ति' लक्ष्यार्थ लक्षणा शक्ति से

लगा। 'समस्तता' जो प्रयोजन है वह तीसरी शक्ति व्यंजना से लगा। एक शक्ति एक ही अर्थ देती है। दूसरा अर्थ करने के लिए दूसरी शक्ति से काम लेना पड़ता है। व्यंजना शक्ति से जो अर्थ निकलता है उसे व्यंग्यार्थ कहते हैं। जब व्यंग्यार्थ मुख्यार्थ या वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारवाला दिखाई देता है तब उस व्यंग्यार्थ को ध्वनि कहते हैं। कभी तो व्यंग्यार्थ गौण रहता है और वाच्यार्थ प्रधान रहता है और कभी कहीं केवल वाच्यार्थ ही रहता है, व्यंग्यार्थ कुछ नहीं होता। पहले को गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं और दूसरे को अलंकार। केवल अलंकारवाली कविता साधारण होती है। जब व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से दबता होता है या समान रहता है तब गुणीभूत व्यंग्य कहलाता है। ऐसी कविता मध्यम श्रेणी की होती है। पर जब व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से बढ़ जाता है तब ध्वनि होती है। ऐसा काव्य उत्तम कहलाता है। इसी से कहा गया है कि 'ध्वनिरात्मा काव्यस्य'। कविता की आत्मा ध्वनि है।

नरोत्तम कवि के इस सुदामाचरित में ध्वनि तो सर्वत्र नहीं है, पर पर्याप्त परिमाण में अवश्य है। अलंकार पर इन्होंने कम ध्यान दिया है।

अलंकार—कविता के लिए अलंकार भी अपेक्षित है। पर केवल अलंकार नहीं। अलंकार का अर्थ 'गहना' है। सुंदर व्यक्ति के शरीर पर गहनों का जो उपयोग है, कविता-कामिनी के लिए अलंकारों का वही उपयोग है।

सुंदर के लिए सामान्यतया अलंकार की आवश्यकता नहीं होती। पर उसके सौंदर्य को बढ़ाने के लिए अलंकार होते हैं। अलंकार शोभा को बढ़ानेवाला होता है। जिस प्रकार गहनों के अधिक लाद देने से कोई नारी चलने तक में असमर्थ हो जाती है, ठीक उसी प्रकार अलंकाराधिक्य से कविता बीहड़ हो जाती है।

अलंकार लिखने और बोलने की शैली का नाम है। सीधी बात का सर्वत्र महत्त्व नहीं होता। काव्य में सीधी-सादी बात को 'वार्ता' कहते हैं। यह वार्ता जब चारुता से कही जाती है, बाँकपन से कही जाती है तब इसे अलंकार कहते हैं। किसी को 'पंडित' कहने में बात सीधी है। पर यह कहना कि 'वह वृहस्पति है' शैली आ गई। उसे वृहस्पति बनाया गया। उसपर वृहस्पति का आरोप कर दिया गया। यह रूपक हो गया।

अलंकार दो प्रकार के होते हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार। शब्दा-लंकार उतने महत्त्वपूर्ण नहीं माने जाते। पर अर्थालंकार महत्त्वशाली कहे गए हैं। इनमें 'उपमा' मुख्य है। कुछ लोगों का कहना तो यहाँ तक है कि सब अलंकारों के मूल में 'उपमा' ही है। जैसे नटी नाना प्रकार के वेश धारण करती हुई एक ही होती है वैसे ही जितने अलंकार हैं उनके मूल में 'उपमा' एक ही है।

हिंदी में सूरदास की उपमाएँ प्रसिद्ध हैं। रूपक, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति आदि उपमा के सहायक प्रकार मात्र हैं। नरोत्तम कवि की इस रचना में सादृश्यमूलक अलंकार ही अधिक आए हैं। आग्रहपूर्वक इन्होंने अलंकार की योजना नहीं की है। तुलसीदास की भाँति जो अलंकार स्वयम् आ गए उन्हें ही रखा है। कुछ उदाहरण लीजिए—

१—रंक तें राउ भयो तबहीं जबहीं भरि अंक रमापति भेंट्यो।

(परिकर)

२—एक मुठी हरि भरि लई लीन्ही मुख में डारि।
चबत चबाउ करन लगे चतुरानन त्रिपुरारि॥

(चपलातिशयोक्ति और असंगति)

३—आवन कै निज पावन सों यहाँ मो सो अपावन पावन कीनो।

(अनुप्रास, यमक)

४—घर-घर कर ओड़त फिरे तनक दही के काज।
कहा भयो जो अब भयो हरि को राज-समाज॥

(सम)

छंद—'सुदामाचरित' की जितनी प्रतियाँ मिलती हैं उनमें छंदों की संख्या भिन्न-भिन्न है। प्रायः छंदों की संख्या १२१ मिलती है। इन १२१ छंदों में ८५ दोहे, २१ सवैया, १४ कवित्त और १ कुंडलिया है। २१ सवैयों में १७ मत्तगयंद, २ अरसात, १ मदिरा, १ किरीट है। पर एक प्रति में १५६ छंद मिलते हैं, जिनमें भिन्न-भिन्न छंदों की संख्या इस प्रकार है—दोहे १००, सवैया ३०, कवित्त २५, कुंडलिया १। १२१ छंदों में से १ दोहा और

१ कवित्त उसमें नहीं है। इस प्रकार उस प्रति में ३७ छंद अधिक हैं। पर इन ३७ छंदों में बहुत से स्पष्ट ही नरोत्तम कवि के नहीं जान पड़ते। अधिक प्रतियों में ३१ छंद ही अधिकतर अतिरिक्त मिलते हैं। वे ही यहाँ परिशिष्ट में दिए गए हैं।

छंदों के लिए सबसे बड़ी बात है धारा-प्रवाह। सुंदर भाव, रस, अलंकारादि से युक्त छंद भी धारा-प्रवाहहीन होने से बुरा जान पड़ता है। यति-भंग दोष भी छंदों को बिगाड़ देता है। हर्ष की बात है कि नरोत्तम कवि की कविता में यह दूषण नहीं है।

इनके सवैया छंद बहुत प्रवाहपूर्ण हैं। पढ़ने में विशेष मधुर जान पड़ते हैं। दोहों को छोड़ सवैयों की संख्या अधिक है भी। जान पड़ता है सवैया छंद इन्हें विशेष मँजा था। इनमें कई गुरुवर्ण एक साथ-देखकर धाराप्रवाह के बिगडने का भय नहीं करना चाहिए। वे यथास्थान आप से आप लघु हो जाते हैं। जैसे, 'कै वह टूटी सी छानी हुती' में। व्रजभाषा लचोली भाषा है।

छंदों का चुनाव भी उपयुक्त होना चाहिए। कथात्मक ग्रंथों या पुस्तकों में इस पर विशेष ध्यान देना चाहिए। जिन ग्रंथों में कोई सिद्धांत स्थिर कर लिया गया हो कि अमुक-अमुक छंद में ही ग्रंथ रचा जायगा उनकी स्थिति दूसरी है। जैसे तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में, सूरदास के 'सूरसागर' में। छंदों से भी रसोद्रेक में सहायता मिलती है। सुदामाचरित में यद्यपि चार प्रकार के छंदों का प्रयोग किया गया है तथापि रसानुकूलता के लिए छंदों का ध्यान अवश्य रखा गया है। कोमल प्रसंगों में सवैया, ओजपूर्ण स्थितियों में कवित्त और कथाक्रम कहने में दोहों का व्यवहार हुआ है। कुछ साधारण वर्णन भी दोहों में ही हैं। केशव ने 'रामचंद्रचंद्रिका' में जिस प्रकार पग-पग पर छंद बदले हैं और बहुत से छंद रखे हैं वैसा करना प्रबंध के प्रवाह का अवरोधक माना जाता है। यहाँ कवि ने कम छंदों का व्यवहार करके काव्यविज्ञता का परिचय दिया है।

वर्णन

वर्णन करने का ढंग भी उत्तमता बढ़ाता है। यों तो किसी भी उचि
कथा-प्रसंग को लेकर काव्य लिखा जा सकता है और नाटक रचे जा सक
हैं, पर जो ठीक वर्णन न रखेगा उसका ग्रंथ सरल न होगा। उचित नियोज
करके उसे सुंदर बना डालना कला है। बड़ी-बड़ी कथाएँ थोड़े में कही
सकती हैं और छोटी-छोटी कथाएँ बड़ी की जा सकती हैं। पर अनावश्य
की भरती और आवश्यक का त्याग न होना चाहिए। 'सुदामाचरित' बहु
छोटी पुस्तक है, पर उसमें न तो कोई अनावश्यक नियोजन है और न क
आवश्यक का परित्याग। वर्णन बड़े अच्छे ढंग से किया गया है। सुदामा औ
सुदामा की स्त्री के बीच जो वार्तालाप हुआ है उसमें स्वाभाविक बात-चीत
ढंग बहुत अच्छा है। यही नहीं, जहाँ कहीं किसी का वर्णन है वहाँ चित्र-
खींच दिया गया है। नरोत्तम कवि सूची के फेर में नहीं पड़े। भोजन
प्रसंग में कुछ नाम उचित रीति से दे दिए हैं।

मार्मिक कथन और वर्णन के कारण इनके कई छंद लोक में अ
प्रचलित हैं।

पुस्तक की समालोचना करने पर यह सिद्ध होता है कि यह सभी दृष्टि
से उपादेय, उत्तम और सुंदर है।

'सुदामाचरित' पर हलधर कवि ने भी एक ग्रंथ हिंदी में लिखा है,
भी बड़ा उत्तम है। मुंशी गुरुसहायलाल 'मुल्तजी' ने उर्दू में एक बढ़ि
सुदामाचरित लिखा है। 'मित्रादर्श' नामक महाकाव्य स्वर्गीय लाला भगवा
दीनजी लिख रहे थे, जो पूरा न हो सका। नरोत्तम कवि की यह छोटी-
पुस्तक सुदामाचरित अनेक दृष्टियों से अमूल्य रत्न है। यह खंडकाव्य है
प्रबंधकाव्य अर्थात् कथा लेकर लिखे जानेवाले काव्य तीन प्रकार के होते हैं
एक वे जिनमें कथा का पूरा विस्तार होता है, दूसरे वे जिनमें कथा का
अधिक विस्तार ही रहता है और न वह अल्प ही होती है, तीसरे वे जिन
कथा छोटी ली जाती है। पहले प्रकार के प्रबंधकाव्य महाकाव्य कहाते हैं, दू
प्रकार के प्रबंधकाव्य मध्य कथाकाव्य या एकार्थकाव्य कहलाते हैं और ती
प्रकार के प्रबंधकाव्य खंडकाव्य कहे जाते हैं।

जीवन-वृत्त

नरोत्तम कवि उत्तरप्रदेश के जिला सीतापुर के बाड़ी कस्बे के निवासी थे। कहा जाता है कि सं० १६०२ तक ये उसी कस्बे में रहे। इनके सुदामा-चरित का रचनाकाल सं० १५८२ बताया जाता है। इनके बनाए दो ग्रंथ और सुनने में आए हैं—'ध्रुवचरित' और 'विचारमाला'। मिश्रबंधुओं ने इन्हें कान्यकुब्ज ब्राह्मण लिखा है और इसका कारण यह बताया है कि सीतापुर में कान्यकुब्ज ब्राह्मण ही विशेष मिलते हैं। शिवसिंह-सरोज में भी इनका समय १६०२ लिखा है। 'सुदामाचरित' के अतिरिक्त नरोत्तम कवि का न तो कोई और ग्रंथ ही मिलता है न फुटकल काव्य ही। मिश्रबंधुओं ने लिखा है—'इनका शृंगार रस का भी एक उत्तम छंद हमारे पास है'।

मिश्रबंधु-विनोद में इनका नाम 'नरोत्तमदास' लिखा गया है और इनके कान्यकुब्ज ब्राह्मण होने का अनुमान किया गया है।* 'तुलसीदास', 'सूरदास', 'केशवदास' की भाँति ये भी किसी भागवत संप्रदाय के अनुयायी थे, इसी से 'नरोत्तमदास' नाम से विख्यात हुए।

———

* शिवसिंहजी ने इन्हें 'ब्राह्मण' ही लिखा है, वे लिखते हैं—

'नरोत्तमदास ब्राह्मण जिला सीतापुर कस्बा बाड़ीवाले। सुदामाचरित्र बनाया है मानो प्रेम-समुद्र बहाया है'।

संपादक की कुछ प्रमुख कृतियां

समीक्षात्मक ग्रंथ

- हिंदी-साहित्य का अतीत (दो भाग)
- हिंदी का सामयिक साहित्य
- गोसाईं तुलसीदास (समीक्षा-ग्रंथ)
- वाङ्मय-विमर्श
- हिंदी में नाट्य-साहित्य का विकास
- बिहारी की वाग्विभूति
- बिहारी
- काव्यांग-कौमुदी (तीन भाग)

संपादित ग्रंथ

- भूषण-ग्रंथावली
- रसखानि
- घनआनंद-ग्रंथावली
- घनआनंद-कवित्त
- केशवदास (संकलन)
- रसिकप्रिया (प्रियाप्रसाद तिलक)
- केशवदास-ग्रंथावली (तीन भाग)
- भिखारीदास-ग्रंथावली (दो भाग)
- जगद्विनोद
- पद्माभरण
- गंगालहरी
- पद्माकर-ग्रंथावली
- सुदामाचरित
- कवित्तावली
- रामचरितमानस (काशिराज-संस्क रण)
- जसवंतसिंह ग्रंथावली

नीलाकंठ उजले बोल (हास्य-व्यंग्य की कहानियाँ)

सुदामा चरित

(दोहा)

श्रीगनेस सुमिरन करौं, उपजै बुद्धि-प्रकास।
सो चरित्र बरनन करौं, जातें दारिद नास ॥ १ ॥

सुमिरन = (सं० स्मरण) । दारिद = (सं० दारिद्रय) ।
छंद—दोहा (प्रथम एवम् तृतीय चरणों में १३-१३ दूसरे एवम् चौथे चरणों में ११-११ मात्राएँ, अंत में 'गुरु लघु' ।

ज्यों गंगा-जल पान तें, पावत पद-निरबान।
त्यों सिंधुर[1]-मुख-बात तें, मूढ़ होत बुधिवान ॥ २ ॥

पद-निरबान = (सं० निर्वाण-पद) मोक्ष । सिंधुर-मुख = गज-मुख, गणेश । मूढ़ = मूर्ख । बुधिवान = (सं० बुद्धिमान्) ।

कृस्न-मित्र कइ जन्म को, ताको बरनन कीन्ह।
सुख संपति-माया मिलै, सो उपदेस जु दीन्ह ॥ ३ ॥

कइ = कई (बहुत) । बरनन = (सं० वर्णन) । माया = ऐश्वर्यविलास ।

बिप्र सुदामा बसत हो, सदा आपने धाम।
भीख माँगि[2] भोजन करै, हिये जपत हरि-नाम ॥ ४ ॥

हो = था ।

ताकी घरनी पतिव्रता, गहे वेद की रीति।
सलज सुसील सुबुद्धि अति, पतिसेवा सों प्रीति ॥ ५ ॥

घरनी = (सं० गृहिणी) स्त्री । गहे = धारण किए । गहे वेद की रीति = आर्य-पथ को ग्रहण किए हुए । सलज = लज्जावती ।

पाठांतर—१ सुंदर । २ भिच्छा करि ।

कह्यौ सुदामा एक दिन, 'कृस्न हमारे मित्र'।
करत रहति उपदेस तिय, ऐसो परम विचित्र ॥ ६ ॥

करत रहति उपदेस तिय = स्त्री उपदेश (प्रेरणा, किया करती थी।

स्त्री—

महादानि जिनके हितू जदु-कुल-कैरव[1] चंद।
ते दारिद-संताप तें, रहैं न किमि निरद्वंद ॥ ७ ॥

महादानि = वह दानी जो अपने को भी दे सकता है। हितू = हित करने-वाला मित्र। जदु-कुल = यदुवंश (वह वंश जिसमें श्रीकृष्ण उत्पन्न हुए थे)। कैरव = कोईं, कुमुद (सफेद कमल)। जदु-कुल-कैरव-चंद = यदुवंश रूपी कुमुद के लिए चंद्रमा (के समान सुखद)। संताप = दुःख। निरद्वंद = निश्चित।

अलंकार—रूपक (परंपरित) और परिकर ('चंद' में)।

कह्यौ सुदामा 'बाम, सुनु वृथा और सब भोग।
सत्य भजन भगवान को, धर्म-सहित जप-जोग' ॥ ८ ॥

बाम = (सं० वामा) स्त्री (टेढ़े स्वभाववाली)। भोग = भोग्य पदार्थ। जप-जोग = जप करना।

अलंकार—आत्मतुष्टि-प्रमाण।

स्त्री— (कवित्त)

लोचन-कमल दुख-मोचन तिलक भाल,
स्रवननि कुंडल मुकुट धरे माथ हैं।
ओढ़े पीत-वसन गरे मैं बैजयंती-माल,
संख चक्र गदा और पद्म लिये हाथ हैं॥
कहत नरोतम संदीपनि गुरू के पास,
तुम ही कहत हम पढ़े एक साथ हैं।
द्वारिका के गए हरि दारिद हरैंगे पिय,
द्वारिका के नाथ वै अनाथन के नाथ हैं ॥९॥

पाठांतर—१ हैं हरि यदुकुल।

दुख-मोचन = दुःख से छुड़ानेवाले। तिलक = टीका। भाल = मस्तक। स्रवननि = कानों में। कुंडल = कान का एक गहना। पीत-बसन = पीला वस्त्र (पीतांबर)। वैजयंती-माल = पंचरत्नी माला (पंचरत्न—नीलम, मोती, माणिक, पुखराज और हीरा)। संदीपनि = श्रीकृष्ण और सुदामा के गुरु श्री सांदीपनि।

छंद—मनहरण कवित्त। प्रत्येक चरण में १६ और १५ अक्षरों के विराम से ३१ अक्षर, अंत में एक गुरु वर्ण।

अलंकार—परिकर ('हरि' शब्द में)।

सुदामा— (सवैया)

सिच्छक हौं सिगरे जग को तिय, ताकों कहा अब देति है सिच्छा।
जे तप कै परलोक सुधारत संपति की तिनके नहिं इच्छा॥
मेरे हिये हरि के पदपंकज बार हजार लै देखु परिच्छा।
औरन कों धन चाहिय बावरि बाँभन को धन केवल भिच्छा॥१०॥

सिगरे = (सं० सकल) समस्त। परलोक सुधारत = परत्र को बनाते हैं। पंकज = कमल। बावरि = पगली। बाँभन = (ब्राह्मण)।

छंद—मत्तगयंद सवैया। प्रत्येक चरण में ७ भगण + २ गुरु = २३ अक्षर। इसका नाम 'मालती' भी है।

स्त्री—

दानी बड़े तिहुँ लोकन मैं जग जीवत नाम सदा जिनको लै।
दीनन की सुधि लेत भली बिधि सिद्धि करौ पिय मेरो मतो लै॥
दीनदयाल के द्वार न जात सो और के द्वार पै दीन ह्वै बोलै।
श्रीजदुनाथ से जाके हितू सो तिहूँ पन क्यों कन माँगत डोलै॥११॥

तिहुँ लोक = त्रिलोक (स्वर्ग, मर्त्य, पाताल)। नाम लै = स्मरण करके। सुधि = खोज-खबर। सिद्धि करो = (मुहावरा) प्रस्थान करो। मतो = राय। पन = अवस्था। कन = भिक्षा। डोलै = मारा-मारा फिरे।

सुदामा—

छत्रिन के पन जुद्ध जुवा, सजि बाजि चढ़े गजराजनहीं[1]।
वैस को वानिज और कृषी, पन सूद्र को सेवन-साजनहीं॥
बिप्रन को पन है जु यही सुख-संपति सों कछु काज नहीं।
कै पढ़िबो कै तपोधन है कन माँगत बाँभनै लाज नहीं॥१२॥

पन=बाना, कर्म। जुवा=(सं० द्यूत)। सजि=सजाकर। बाजि=घोड़ा। वैस=(सं० वैश्य)। वानिज=(सं० वाणिज्य)। सेवन-साजन=सेवा का साज साजना, सेवा करना। कै=(सं० किंवा) या। तपोधन=तपस्या ही धन है।

छंद—मदिरा सवैया (७ भगण + १ गुरु=२२ अक्षर)।

अलंकार—आत्मतुष्टि-प्रमाण।

स्त्री—

कोदो सवाँ जुरतो भरि पेट, न चाहति हौं[2] दधि दूध मिठौती।
सीत बितीत गयौ सिसियातहि[3] हौं हठती पै[4] तुम्हैं न हठौती॥
जौ जनती न हितू हरि सो तुम्हैं[5] काहे को द्वारिकै पेलि[6] पठौती।
या घर तें न गयो कबहूँ पिय, टूटो तवा अरु फूटी कठौती॥१३॥

कोदो=(सं० कदन्न) एक प्रकार का निकृष्ट चावल। सवाँ=(सं० श्यामक) साँवाँ। जुरतो=मिलता। भरि पेट=पेट भर। मिठौती=मीठा। सीत=जाड़ा। बितीत=(सं० व्यतीत)। सिसियात=सी-सी करते हुए (कष्ट से)। हठती=हठ करती। हठौती=हठ करवाती। पेलि=जबर्दस्ती। पठौती=भेजती।

सुदामा—

छाँड़ि सबै तक[7] तोहि लगी बक आठहु जाम यहै जक[8] ठानी।
जातहि दैहैं लदाय लढ़ा भरि लैहौं लदाय यहै जिय ठानी॥

पाठांतर—१ दल साजि चढ़ै गज बाजिनही। २ ही। ३ बितीतत जो सिसियात तौ। ४ औ। ५ तौ मैं। ६ ठेलि। ७ जक। ८ मन।

पावै[1] कहाँ तें अटारी अटा जिनके विधि दीन्हीं है[2] टूटी-सी छानी।
जो पै दरिद्र लिखो है ललाट तौ काहू पै मेटि न जात[3] अयानो।।१४।।

तक = विचार, बात। जक लगना = बारंबार किसी बात को कहना। बक = बकवाद। जाम = (सं० याम) प्रहर। देहैं लदाय लढ़ा = छकड़ा लदा देंगे। खूब देंगे : लढ़ा = बैलगाड़ी, छकड़ा। अटारी = छत अर्थात् महल। अटा = बड़ी छत। छानी = छप्पर। ललाट = भाल। काहू पै = किसी से। मेटि न जात = मिटाया नहीं जा सकता। अयानी = मूर्ख।

स्त्री—

पूरन पैज करी प्रहलाद की खंभ सों बाँध्यो पिता जिहि बेरे।
द्रौपदी ध्यान धर्‌यो जबहीं तबहीं पट-कोट लगे चहुँ फेरे।।
ग्राह तें छूटि गयंद गयो पिय, है हरि को निहचै जिय मेरे।
ऐसे दरिद्र हजार हरैं वै कृपानिधि लोचन-कोर के हेरे।।१५।।

अलंकार—लोकोक्ति (चतुर्थ चरण में)।

पैज = (सं० प्रतिज्ञा) प्रण। बेरे = (सं० वेला) समय। पट-कोट = वस्त्र के कोट के कोट। चहुं फेरे = चारो ओर। निहचै = (सं० निश्चय)। हेरे = देखने से।

अलंकार—विभावना (दूसरी)।

सुदामा—

चक्कवै चौंकि रहे चकि-से तहाँ भूले-से भूप अनेक[4] गनाऊँ।
देव गँधर्व औ किंनर जच्छ से साँझ लौं देखे खरे[5] जिहि ठाऊँ।।
तैं दरबार बिलोक्यौ नहीं अब तोहि कहा कहिकै समुझाऊँ।
रोकिये लोकन के मुखिया तहँ हौं दुखिया किमि पैठन पाऊँ।।१६।।

चक्कवै = (सं० चक्रवर्ती)। चकि-से = आश्चर्य-चकित होकर। किन्नर =

पाठांतर—१ पैये। २ जिहि भाग लिखी विधि। ३ कैसे कै मेटि सकैंगे। ४ कहाँ लौं। ५ ठाढ़े तकैं सकुचैं।

स्वर्ग के गवैया। जच्छ=(सं० यक्ष) कुबेर के गण। लौं=तक। ठाऊँ=(सं० स्थान)। दुखिया=गरीब।

अलंकार—काव्यार्थापत्ति।

स्त्री—

भूले से भूप अनेक खरे रहौ ठाढ़े रहौ[1] तिमि चक्कवै भारी।
देव गँधर्व औ किंनर जच्छ से रोके जे[2] लोकन के अधिकारी॥
अंतरजामी वै आपुहि जानिहैं मानौ, यहै सिख लेहु[3] हमारी।
द्वारिकानाथ के द्वार गए सब तें पहिले सुधि लैहैं तुम्हारी॥१७॥

अंतरजामी=(सं० अंतर्यामी) हृदय की बात जाननेवाला। सिख=शिक्षा।

सुदामा—

दीनदयाल को ऐसोई द्वार है दीनन की सुधि लेत[4] सदाई।
द्रौपदी तें गज तें प्रहलाद तें जानि परी न विलंब लगाई॥
याही तें भावत मो मन दीनता जौ निवहै निवही जस आई।
जौ ब्रजराज सों प्रीति नहीं केहि काज सुरेसहु की ठकुराई॥१८॥

सदाई=सदा ही। जस=जैसे। केहि काज=किस काम की। ठकुराई=प्रभुत्व।

अलंकार—परिकर ('दीनदयाल' में), हेतु (द्वितीय पद में) और आत्मतुष्टि-प्रमाण (अंत में)।

स्त्री—

(कवित्त)

फाटे पट टूटी छानि खायौ भीख माँगि आनि,
बिना जग्य[5] बिमुख रहत[6] देव-पित्रई।
वै हैं दीनबंधु दुखी देखिकै दयाल ह्वैहैं,
दैहैं कछु भलो सो हौं जानत अगत्रई॥

पाठांतर—१ थके। २ तीनहू; रोकिये। ३ आजु। ४ सो रस-रीति। ५ गाँठि। ६ हैं जेते।

द्वारिका लौं जात पिय, केतौ अलसात तुम,
काहे कौं लजात भई कौन सी बिचित्रई।
जौ पै सब जन्म या दरिद्र ही सतायो तौ पै,
कौने काज आइहै कृपानिधि की मित्रई॥१६॥

पट=वस्त्र। जग्य (सं० यज्ञ)। विमुख=प्रतिकूल। पित्रई=पितृ-गण भी। हौं=(सं० अहम्) मैं। अगत्रई=(स० अग्रतो हि) आगे से ही, पहले ही से। केतौ अलसात=कितना आलस्य करते हो। बिचित्रई=विचित्रता। मित्रई=मित्रता।

अलंकार—विशेषोक्ति (चतुर्थ पद में)।

सुदामा—

तैं तो कही नीकी सुनि बात हित ही की,
यही रीति मितई की नित प्रीति सरसाइये।
मित्र के मिले तें चित्त चाहिये परसपर,
मित्र के जो जेंइये तो आपहू जेंवाइये।
वै हैं महाराज जोरि बैठत समाज भूप,
तहाँ यहि रूप जाइ कहा सकुचाइये।
सुख दुख करि दिन काटे ही बनैंगे भूलि
बिपति परे पै द्वार मित्र के न जाइये॥२०॥

तैं=तू। हित ही की=हितकारी। मितई=(मित्रई) मित्रता। प्रीति सरसाइये=प्रीति बढ़ानी चाहिए। चित चाहिये परसपर=चित्त में परस्पर प्यार करे। जेंइये=भोजन करे। जेंवाइये=भोजन कराए। जोरि=एकत्र करके। काटे ही बनैंगे=व्यतीत करने ही पड़ेंगे।

अलंकार—लोकोक्ति।

स्त्री—

बिप्र के भगत हरि जगत-विदित बंधु,
लेत सब ही की सुधि ऐसे महादानि हैं।

पढ़े एक चटसार कही तुम कैयौ बार,
लोचन अपार वै तुम्हैं न पहिचानिहैं ?
एक दीनबंधु, कृपासिंधु, फेरि गुरुबंधु,
तुम-सम कौन दीन जाकौं जिय जानिहैं ?
नाम लेत चौगुनी, गए तें द्वार सौगुनी सो,
देखत सहस्र गुनी प्रीति प्रभु मानिहैं ॥२१॥

बंधु=भाई (सहायक)। चटसार=पाठशाला। कैयौ वार=कई दफा। जानिहैं=ध्यान देंगे।

अलंकार—समुच्चय, परिकर ('दीनबंधु' में), सार (चतुर्थ चरण में)।

सुदामा— (सवैया)

प्रीति मैं चूक न है उनके हरि मों मिलिहैं उठि कंठ लगायकै।
द्वार गए कछु दैहैं पै दैहैं वै[1] द्वारिकानाथजू हैं सब लायकै।
या बिधि बीति गए पन द्वै अब तो पहुँचो बिरधापन आयकै।
जीवन केतो है जाके लिये[2] हरि सों[3] अब होहुँ कनावड़ो जायकै ॥२२

चूक=दोष, भूल। सों=मुझे। लायकै=(फारसी) योग्य। बिधि=तरह। पन=अवस्था। बिरधापन=बुढ़ापा। कनावड़ो=उपकृत, एहसानमंद।

छंद—अरसात सवैया (प्रत्येक चरण में ७ भगण+१ रगण=२४ अक्षर)।

अलंकार—आत्मतुष्टि-प्रमाण।

स्त्री—

हू जै कनावड़ो बार हजार लौं जौ हितू दीनदयाल-सो पाइये।
तीनहुँ लोक के ठाकुर[4] हैं तिनके दरबार न जात[5] लजाइये॥
मेरी कही जिय मैं धरिकै[6] पिय, भूलि न और प्रसंग चलाइये।
और के द्वार सो द्वार[7] कहा पिय द्वारिकानाथ के द्वारे सिधाइये ॥२३

पाठांतर—१ भलो हमैं। २ है कितनो जग मैं। ३ को। ४ नायक। ५ गए न। ६ करिकै हिय मैं। ७ काज।

ठाकुर=स्वामी। सिधाइए=जाइए।

सुदामा—

द्वारिका जाहु जू द्वारिका जाहु जू आठहु जाम यहै जक तेरे।
जौ न कहो करिये तौ वड़ो दुख जैये कहाँ अपनो गति हेरे॥
द्वार खरे प्रभु के छरिया तहँ भूपति जान न पावत नेरे।
पाँच सुपारी तैं देखु विचारिकै भेंट कौं चारि न चाउर मेरे ॥२४॥

जक=एक ही बात को बारवार कहना। गति=दशा। छरिया=छड़ी बरदार (द्वारपाल)। नेरे=(सं० निकट)। चाउर=चावल। भेंट कौं चारि न चाउर मेरे=भेंट देने के लिए चावल के चार दाने तक नहीं हैं।

(दोहा)

यह सुनिकै तब ब्राम्हनी[1], गई परोसिनि[2] पास।
पाव-सेर[3] चाउर लिये, आई सहित-हुलास ॥२५॥

पाव-सेर = $\frac{1}{4}$ सेर, पाव-भर। हुलास= (सं० उल्लास) उत्साह।

सिद्धि करी गनपति सुमिरि, बाँधि दुपटिया[4] खूँट।
माँगत खात चले तहाँ, मारग बाली बूट ॥२६॥

सिद्धि करी=(मुहावरा) प्रस्थान किया। दुपटिया=छोटा दुपट्टा। खूँट=छोर। बाली=अनाज की बाल। बूट=चने का पौधा।

तीनि दिवस चलि बिप्र के, दूखि उठे जब पाय।
एक ठौर सोए कहूँ, घास-पयार बिछाय ॥२७॥

दूखि उठे=पीड़ा होने लगी। पयार=धान का सूखा डंठल।

अंतरजामी आपु हरि जानि भगत की पीर।
सोवत लै[5] ठाढ़ौ कियौ, नदी गोमती-तीर ॥२८॥

पीर= (सं० पीड़ा)। ठाढ़ो कियो=खड़ा कर दिया, पहुँचा दिया। गोमती=द्वारका की एक छोटी-सी नदी।

पाठांतर—१ उठि सारथी। २ काहू तिय। ३ सिर (सेर) पावक। ४ कपटिया। ५ मैं।

प्रात गोमती-दरस तें[1], अति प्रसन्न भो चित्त।
बिप्र तहाँ असनान करि, कीन्हो नित्त-निमित्त ॥२९॥

भो=हुआ। कीन्हो नित्त-निमित्त=नैत्यिक और नैमित्तिक कर्म किए (संध्यावंदनादि)।

भाल तिलक घँसिकै दियौ, गही सुमिरनी हाथ।
देखि दिव्य द्वारावती, भयौ अनाथ सनाथ ॥३०॥

सुमिरनी=२७ गुरियों की छोटी माला। दिव्य=अति सुंदर। द्वारावती=द्वारका।

(कवित्त)

दीठि चकचौंधि गई देखत सुवर्नमई,
एक तें सरस एक द्वारिका के भौन हैं।
पूछे बिन कोऊ कहूँ[2] काहू सों न करै[3] बात,
देवता से बैठे सब साधि-साधि[4] मौन हैं।
देखत सुदामैं धाय पौरजन गहे पाय[5],
'कृपा करि कहौ बिप्र कहाँ कीन्हौ गौन हैं?'
'धीरज अधीर के, हरन परपीर के,
बताओ बलबीर के महल यहाँ कौन हैं?' ॥३१॥

दीठि=नजर। चकचौंधि गई=चकपकाने लगी। सुवर्नमई=साने ही सोने की बनी हुई द्वारका। सरस=बढ़कर। भौन=(भवन)। साधि-साधि मौन=मौन साधकर। धाय=दौड़कर। पौरजन=पुर के निवासी। कहाँ कीन्हौ गौन है=किसके पास आए हैं।

अलंकार—पूर्णोपमा (द्वितीय चरण में)।

पाठांतर—१ को दरस। २ पूछत न साथ कोऊ। ३ कहै। ४ मनौं सिद्ध गहे। ५ कर गहि लीनो काहू पुरजन आइ।

(दोहा)—

दीन जानि काहू पुरुष, कर गहि लीन्हौ आय।
दीनहि द्वार खरो कियौ, दीनद्याल के जाय॥ ३२॥*

कर = हाथ। दीनद्याल = दीनदयालु।

द्वारपाल द्विज जानिकै, कीन्हौ दंड-प्रनाम।
'बिप्र, कृपा करि भाषिये, सकुल आपनो नाम'॥३३॥

दंड-प्रनाम = साष्टांग दंडवत। भाषिये = कहिए। सकुल = कुल सहित।

सुदामा —

नाम सुदामा कृस्न हम, पढ़े एकई साथ।
कुल पाँडे, ब्रजराज सुनि, सकल जानिहैं गाथ॥३४॥

एकई = एक ही। कुल पाँडे = पांडेय आस्पद। ब्रजराज = श्रीकृष्ण। गाथ = कथा।

द्वारपाल चलि तहँ गयौ, जहाँ कृस्न जदुराय।
हाथ जोरि ठाढ़ो भयौ; बोल्यौ सीस नवाय॥३५॥

द्वारपाल—

(सवैया)

सीस पगा न झगा तन मैं प्रभु, जानै को आहि बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी सी लटी दुपटी अरु पाय उपानह की नहिं सामा।
द्वार खरौ द्विज दुर्बल एक[1] रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल के[2] धाम बतावत आपनो नाम सुदामा॥३६॥

पगा = पगड़ी। झगा = कुर्ता। जानै को आहि = न जाने कौन है। लटी = जीर्ण-शीर्ण, पुरानी। उपानह = पादत्राण, जूता। सामा = (सामान) सामग्री। पाव उपानह की नहिं सामा = पैर में जूता तक नहीं है। चकि

---

* एक प्रति में यह दोहा इस प्रकार है—

यह सुनिकै उनहीं पुरुष, कर गहि लीनो आइ।
प्रभु-द्वारे ठाढ़ो कियो, दीनबंधु के जाइ॥

पाठांतर— १ देखि। २ को।

रह्यौ = आश्चर्यचकित हो रहा है। वसुधा = मकान, राजमहल। अभिराम = सुंदर। धाम = महल।

अलंकार—स्वभावोक्ति।

(कवित्त)

बोल्यौ द्वारपालक 'सुदामा नाम पाँडे' सुनि,
छाँडे राजकाज ऐसे जी की गति जानै को ?
द्वारिका के नाथ हाथ जोरि धाय गहे पाय,
भेंटे लपटाय करि ऐसे दुख सानै[1] को ?
नैन दोऊ जल भरि पूछत कुसल हरि,
बिप्र बोल्यौ 'विपदा में मोहिं पहिचानै को ?
जैसी तुम करी[2] तैसी करै को कृपा के सिंधु,
ऐसी प्रीति दीनबंधु दीनन सों मानै को ?' ॥३७॥

जी की गति = हृदय की बात। को = कौन। लपटाय = गले से या हृदय से लगाकर। दुख सानै को = कौन (अपने को) दुःख में सानता है, दूसरे के दुःख में कौन दुःख मानता है। विपदा = विपत्ति।

(सवैया)

लोचन पूरि रहे[3] जल सों प्रभु दूरि तें देखतहीं दुख मेट्यो।
सोच भयौ[4] सुरनायक कें कलपद्रुम के हिय माँझ खखेट्यौ॥
कंप कुबेर-हिये सरसो, परसे पग जात सुमेरु ससेट्यौ[5]।
रंक तें राउ भयौ तबहीं जबहीं भरि अंक रमापति भेट्यौ॥३८॥

जल सों पूरि रहे = आँसू से भर गए। सुरनायक = इंद्र। माँझ = में। खखेट्यो भयो = खटका हुआ। कंप कुबेर-हिये सरसो = कुबेर के हृदय में कंप सरसने लगा, कुबेर काँपने लगा। परसे पग = पैर छूने से। सुमेरु ससेट्यो जात = सुमेरु सिकुड़ गया (डर के मारे)। रंक = दरिद्र। राउ = राजा। अंक भरि = अँकवार भरकर। रमापति = लक्ष्मी के पति (श्रीकृष्ण)।

अलंकार—चंचलातिशयोक्ति और परिकर ('रमापति' में)।

पाठांतर—१ सुख मानै। २ कीन्ही। ३ लए। ४ सोर परो। ५ समेटे।

(दोहा)

भेंटि भली बिधि बिप्र सों, कर गहि त्रिभुवनराय।
अंतःपुर को लै गए[1], जहाँ न दूजौ[2] जाय। ३९।।

अंतःपुर = रनिवास।

मनिमंडित चौकी कनक, ता ऊपर बैठाय।
पानी धर्‌यौ परात मैं, पग-धोवन कौं लाय[3] ।।४०।।

मनिमंडित=रत्नजटित। परात = बड़ा थाल।

राजरमनि सोरह-सहस्र, सह-सेवकन स-मीत।
आठौ पटरानी भईं चकित, चितै यह प्रीत ।।४१।।

राजरमनि सोलह-सहस = १६००० रानियाँ। स-मीत = मित्र सहित। पटरानी = (पाट + रानी) पाटमहिषी। चितै = देखकर।

जिनके चरनन को सलिल, हरत जगत-संताप।
पाय सुदामा विप्र के, धोवत ते हरि आप ।।४२।।

जिनके चरनन को सलिल हरत जगत-संताप = जिनके चरणों का जल (गंगा रूप से) संसार का दुःख दूर करता है। आप = स्वयम्।

(सवैया)

ऐसे बेहाल बेवाइन सों पग कंटक-जाल लगे पुनि जोए।
'हाय ! महादुख पायौ सखा, तुम आए इतै न कितै दिन खोए'।
देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिकै करुनानिधि[4] रोए।
पानी परात को हाथ छुयौ नहिं नैनन के जल सों पग धोए ।।४३।।

बेहाल = दुःखी। बेवाई=(सं० विपादिका) पैर के तलुए (विशेषतः एँड़ी) फटने का रोग। कंटक-जाल = काँटों का समूह। जोए = देखे। इतै = यहाँ पर। कितै = कहाँ। करुना करिकै = अत्यधिक शोक के साथ। करुनानिधि = अत्यंत दयालु (श्रीकृष्ण)।

(दोहा)

धोय पाय पट पीत सों, पोंछत हैं जदुराय।
सतिभामा सों यौं कही, 'करौ रसोई जाय' ।।४४।।

पाठांतर—१ चले। २ दूसर। ३ धोवैं जदुराय। ४ करुनामय।

पट पीत=पीला वस्त्र, पीतांबर। सतिभामा=सत्यभामा।

तंदुल तिय दीन्हे हते, आगे धरियौ जाय।
देखि राजसंपति विभव[1], दै नहिं सकत लजाय ॥४५॥

तंदुल=चावल। दीन्हे हते=दिए थे। आगे धरियौ=भेंठ करना।

अंतरजामी आप हरि, जानि भगत की रीति।
सुहृद सुदामा बिप्र सों, प्रगट जनाई प्रीति ॥४६॥

आप=स्वयम्। रीति=ढंग। सुहृद=मित्र। जनाई=प्रगट की।

श्रीकृष्ण—

कछु भाभी हमकौं दियौ, सो तुम काहे न देत।
चाँपि पोटरी काँख मैं, रहे कहौ केहि हेत ॥४७॥

भाभी=बड़े भाई की स्त्री। चाँपि रहे=दबा रहे हो। हेत=कारण।

(सवैया)

'आगे चना गुरु-मातु दए ते लए तुम चाबि हमैं नहिं दीने।'
स्याम कह्यो मुसुकाय सुदामा सों 'चोरीकी बानि मैं हौ जू प्रबीने[2]॥
पोटरी[3] काँख मैं चाँपि रहे तुम खोलत नाहिं सुधा-रस-भीने।
पाछिली बानि अजौं न तजी[4] तुम तैसेई भाभी के तंदुल कीने' ॥४८॥

आगे......दीने=एक बार उज्जयिनी में पढ़ते समय गुरुमाता ने सुदामा को कुछ चने दिए थे और कहा था—'लो, श्रीकृष्ण को साथ लेकर ईंधन ले आओ और दोनो जने चने चबा लेना'। जब ये दोनो वन में गए तब बड़े जोरों का पानी बरसने लगा। दोनो मित्र भटककर अलग-अलग हो गए। सुदामा को भूख लगी, ये सब चने उड़ा गए। श्रीकृष्ण के मिलने पर भी नहीं बताया कि हमें चने चबाने को दिए गए थे। यह बात उन्हें लौट आने पर ज्ञात हुई। गुरु-मातु=गुरुआनी। चाबि लए=चबा गए। बानि=आदत। प्रबीने=(सं० प्रवीण) चतुर। सुधा-रस-भीने=अमृत सने हुए, बहुत मीठे। पाछिली=पिछली (पहले की)। अजौं=अब भी।

पाठांतर—१ राज की संपदा। २ बात मैं हौ परबीने। ३ गांठरी। ४ अबौं न गई।

(दोहा)

खोलत सकुचत गाँठरी, चितवत हरि की ओर।
जीरन पट फटि छुटि परे, बिखरि गए तेहि ठोर ॥४९॥

गाँठरी = पोटली। ओर=तरफ। जीरन = (सं० जीर्ण) पुराना। बिखरि गए = फैल गए।

एक मुठी हरि भरि लई, लीन्ही मुख मैं डारि।
चबत चवाउ करन लगे, चतुरानन त्रिपुरारि ॥५०॥

चबत = चबाते ही। चवाउ करन लगे = बदनामी करने लगे। चतुरानन= ब्रह्मा। त्रिपुरारि = महादेव।

अलंकार—चंचलातिशयोक्ति।

(सवैया)

काँपि उठी कमला मन सोचत 'मो सों कहा हरि को मन औंको'?
रिद्धि कँपीं सब सिद्धि कँपीं नवनिद्धि कँपीं[1] बम्हना यह धौं को?
सोच भयौ सुरनायक के[2] जब दूसरि बार लियौ भरि फौंको।
मेरु डख्यो 'बकसैं जनि मोहिं' कुबेर चवावत चाउर चौंको ॥५१॥

कमला = लक्ष्मी। मन औंको = मन उकता गया है, मन फिर गया है। रिद्धि = (सं० ऋद्धि) वह भोजन-सामग्री जो अपने पास रहे। निद्धि = निधि, खजाना (पद्म, महापद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुंद, कुंद, नील और खर्व)। सिद्धि = आठ होती हैं (अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व)। बम्हना=ब्राह्मण। धौं को = न जाने कौन है? फौंको = फंका। बकसैं जनि = कहीं दान न कर दें।

(कबित्त)

हूल हियरा मैं, सब कानन परी है टेर,
'भेटत सुदामैं स्याम चावि न अघातहीं'।
कहै नरोत्तम रिद्धि सिद्धिन[3] मैं सोर भयौ,
ठाढ़ी थरहरै और सोचै कमला तहीं।

पाठांतर—१ सिद्धि जपैं सब रिद्धि कपैं नव निद्धि लुकैं। २ सोर परो वहुँ लोकन मैं। ३ सिद्धि रिद्धिन।

नाक-लोक, नाग-लोक, ओक-ओक थोक-थोक,
ठाढ़े थरहरैं मुख सूखे सब गातहीं[1]।
हालो परो थोकन मैं, लालो परो लोकन मैं,
चालो परो चक्रन मैं चाउर चबातहीं ॥५२॥

हूल=(सं० शूल) पीड़ा। हियरा=(सं० हृदय)। कानन=कानों में। टेर=पुकार। न अघातहीं=तृप्त न होने से। थरहरैं=काँपती हैं। तहीं=(सं० तत्र) वहीं पर। नाक-लोक=स्वर्ग। नाग-लोक=पाताल। ओक-ओक=घर-घर। थोक-थोक=समूह के समूह। हालो परो=हल्ला मच गया। लालो परो=अकाल पड़ गया, कमी हो गई। चालो परो=कंपन हो गया। चक्रन मैं=दिशाओं में।

अलंकार—चंचलातिशयोक्ति, वीप्सा और पदार्थावृत्ति दीपक।

(सवैया)

भौन भरो पकवान मिठाइन लोग कहैं निधि हैं सुषमा के।
साँझ सवेरे पिता[2] अभिलाषत, दाख न चाखत सिंधु छमा के॥
बाँभन एक कोऊ दुखिया सेर-पावक चाउर लायो समा के।
प्रीति की रीति कहा कहिये तेहि बैठि चबात हैं कंत रमा के ॥५३॥

मिठाइन=मिठाइयों से। निधि=खजाने। सुषमा=सुंदरता। अभिलाषत=इच्छा करते हैं। दाख=(सं० द्राक्षा) मुनक्का। न चाखत=नहीं खाते। सिंधु छमा के=क्षमा के समुद्र। कंत रमा के=लक्ष्मी के पति (श्रीकृष्ण)।

अलंकार—विषम।

(दोहा)

मुठी तीसरी भरतहीं[3], रुकुमिनि पकरी बाँह।
'ऐसी तुम्हैं कहा भई, संपति की अनचाह' ॥५४॥

अनचाह=अनिच्छा, उदासीनता।

पाठांतर—१ रूखे रुख देखत न आवै मुख बात हीं। २ चितै। ३ लेतही।

कही रुकुमिनी कान मैं, 'यह धौं कौन मिलाप।
करत सुदामा आप सो, होत सुदामा आप' ॥५५॥

धौं कौन = न जाने कैसा। मिलाप = भेंट।

यह कौतुक लखिकै सभय[1], कही सेवकिनि आय।
'भई रसोई सिद्ध प्रभु, भोजन करिये जाय' ॥५६॥

कौतुक = आश्चर्य। रसोई सिद्ध भई = भोजन बन गया।

विप्र-सहित असनान करि, धोवो पहिरि बनाय।
संध्या करि मध्यान्ह की, चौका बैठे जाय ॥५७॥

असनान = (सं० स्नान)। मध्यान्ह = (सं० मध्याह्न)।

(कवित्त)

रूपे के रुचिर थार पायस सहित सिता[2],
जीती जिन सोभा[3] है सरदहू के चंद की।
दूसरे पहिति भात सोंधो सुरभी को घृत[4],
फूले-फूले फुलका प्रफुल्ल दुति चंद की।
पापर मुँगौरी बरा ब्यंजन[5] अनेक, प्रीति
देवता विलोकि रहे देवकी के नंद को[6]।
या विधि सुदामाजू कों आछे कै जेंवाय प्रभु,[7]
पाछे तें[8] पछ्यावरि परोसी आनि[9] कंद की ॥५८॥

रूपा = चाँदी। रुचिर = सुंदर। पायस = खीर। सिता = मिसरी। पहिति = दाल। दूसरे = दूसरी थाली में। सुरभी = गाय। फुलका = छोटी-छोटी और पतली-पतली रोटियाँ। प्रफुल्ल = श्वेत कमल। दुति = शोभा। मुँगौरी = मूँग की बरी। बरा = उड़द का बना हुआ एक पदार्थ। ब्यंजन = भोजन। आछे कै = अच्छी तरह से। पाछे तें = पीछे से। पछ्यावरि = मीठा पकवान जो भोजन में पीछे परोसा जाता है। आनि = लाकर। कंद = (फारसी) मिसरी या चीनी। कंद की पछ्यावरि = मीठा पकवान।

पाठांतर—१ याही कौतुक के बिषै। २ सहित सोभा; सहत सीत। ३ सब जीति लीन्ही। ४ परोसो भात सानो है सुरभि घृत। ५ बेसन। ६ भाँति देवता बिलोकैं सोभा भोजन अनद की। ७ फेरि। ८ कै। ९ आय।

अलंकार—प्रताप।

(दोहा)

सात[1] दिवस यहि बिधि रहे, दिन-दिन[2] आदर-भाव।
चित्त चल्यौ घर चलन कौं, ताकर सुनौ बनाव ॥५९॥

बिधि = प्रकार। चित्त चल्यौ = इच्छा हुई। बनाव = वर्णन।

(सवैया)

दाहिने वेद पढ़ै चतुरानन सामुहे ध्यान महेस धर्यौ[3] है।
बाएँ दुऔ कर जोरे लिये सब[4] देवन साथ सुरेस खर्यौ है॥
एतेइ बीच[5] अनेक लिये धन पायन आय कुवेर पर्यौ है।
देखि बिभौ अपनो[6] सपनो बपुरो वह बाँभन चौंकि पर्यौ है॥६०॥

दाहिने = दाईं ओर। चतुरानन = ब्रह्मा। सामुहे = सामने। दुऔ = दोनो। कर = हाथ। बिभौ = विभव, ऐश्वर्य। बपुरो = बेचारा।

(दोहा)

देनो हुतौ[7] सो दै चुके, विप्र न जानी गाथ।
चलती बेर गोपालजू, कछू न दीन्हौ हाथ ॥६१॥

हुतो = था। गाथ = कथा, रहस्य। बेर = (सं० वेला) समय।

सुदामा—

'वह पुलकनि वह उठि मिलनि, वह आदर की भाँति।
यह पठवनि गोपाल की, कछू न जानी जाति ॥६२॥

पुलकनि = रोमांच होना। भाँति = रीति। पठवनि=विदाई।

घर-घर कर ओड़त फिरे, तनक दही के काज।
कहा भयौ जौ अब भयौ, हरि को राज-समाज ॥६३॥

कर ओड़त फिरे = हाथ पसारते रहे, माँगते थे। तनक = थोड़ा। काज = वास्ते। कहा भयौ = क्या हुआ, कौन सी विशेषता आ गई।

पाठांतर—१ तीनि। २ नित उठि। ३ 'बड़ो, खड़ो, पड़ो' आदि। ४ सुसेवक। ५ आए ते पैज। ६ इतनो। ७ देनी हुती।

हौं कब इत आवत[1] हुतौ, वाही[2] पठयौ ठेलि।
कहिहौं धन सों जाइकै,[3] अब[4] धन धरौ सकेलि ॥६४॥

वाही = स्त्री ही ने। धन सों = स्त्री से। सकेलि = बटोरकर।

बालापन के मित्र हैं, कहा देउँ मैं साप।
जैसो हरि हमको दियौ, तैसो पइहैं आप ॥६५॥

बालापन = लड़कपन।

नौ गुनधारी छगुन सों, तिगुना मध्ये जाय।
लायौ चापल चौगुनी,[5] आठौ गुननि[6] गँवाय ॥६६॥

नौगुनधारी = ९ तार का जनेऊ पहननेवाला (ब्राह्मण)। छ गुण = (१) यजन, (२) याजन, (३) पठन, (४) पाठन, (५) दान, (६) प्रतिग्रह। तिगुना = तीन गुण (यजन, पठन, दान) वाले क्षत्रिय। चापल = (सं० चापल्य) चंचलता। चौगुनी = अत्यधिक। आठौ गुन = ज्ञान के साधनभूत आठ गुण (विवेक, वैराग्य, षट्संपत्ति*, मुमुक्षुता, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, समाधि)। गँवाय = खोकर।

अलंकार—दृष्टिकूटक।

सूचना—इस दोहे के 'नौगुन' आदि का अर्थ लोग यथारुचि लगाते हैं और वे लग भी सकते हैं। जैसे; नौगुन का अर्थ ब्राह्मणों के नौ गुण (धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इंद्रिय-निग्रह, ज्ञान, विद्या, सत्य), 'छ गुन' का अर्थ मित्रता के छ लक्षण (देना, लेना, गुप्त बात कहना, गुप्त बात पूछना, भोजन करना, भोजन कराना), 'तिगुन' का अर्थ प्रकृति के तीन गुण (सत्त्व, रज, तम)।

और कहा कहिये जहाँ, कंचन ही के धाम।
निपट कठिन हरि को हियो, मोकों दियो न दाम ॥६७॥

पाठांतर—१ आवत नाहीं। २ बारहिं। ३ अब कहिहौं समुझाइकै। ४ बहु। ५ चपला चौगुनी; चपर चतुर्गुनी। ६ अंग।

* शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान ये षट् संपत्तियाँ हैं।

कंचन = सोना। निपट = अत्यंत। कठिन = कठोर, निष्ठुर। दाम = सबसे छोटा सिक्का जो पुराने एक पैसे में २५ होता था।

बहु भँडार[1] रतनन भरे, कौन करै अब रोष[2]।
लाग आपने भाग को, काको दीजै[3] दोष ॥६८॥

भँडार = खजाना। रोष = क्रोध। लाग आपने भाग को = अपने ही भाग्य का दोष है। काको = किसे।

अलंकार —अनुपलब्धि प्रमाण।

इमि सोचत-सोचत झखत, आयो निज पुर-तीर।
दीठि परी इकबारही, हय गयंद की भीर ॥६९॥

इमि = इस प्रकार। झखत = खीझते हुए। दीठि = दृष्टि। हय = घोड़ा। गयंद = (सं० गजेंद्र) श्रेष्ठ हाथी।

हरि दरसन तें दूरि दुख भयौ, गयौ निज देस[4]।
गौतम रिषि को नाउँ लै, कीन्हौ नगर-प्रवेस ॥७०॥

गौतम रिषि कौ नाउँ लै = हमारे मान्य ग्रंथों में लिखा है कि यदि गौतम ऋषि का नाम लेकर अनजाने नगर में कोई प्रवेश करे तो उसे किसी प्रकार की असुविधा नहीं होती (सुदामा इसे अपना नगर न समझकर अपरिचित नगर समझ रहे हैं, इसी से उन्होंने गौतम ऋषि का नाम लेकर नगर-प्रवेश किया)।

(सवैया)

वैसेई राज-समाज बने गज-बाजि[5] घने मन संभ्रम छायौ।
वैसेई कंचन के सब धाम हैं द्वारिकै माहिं मनौं फिरि आयौ[6]।
भौन विलोकिबे कौं मन लोचत सोचत[7] ही सब गाँव मँझायौ।
पूछत पाँडे फिरे[8] सब सौं पर झोपरो को कहुँ खोज[9] न पायौ ॥७१॥

पाठांतर— १ विभौ झारि। २ सोस। ३ हरिहिं न दीजै। ४ बहुत भाँति ठठकत झुकत आए वाही भेस। ५ राज। ६ कैधौं पर्यौं कहुं मारग भूलिकै कै अब फेरि हौं द्वारिकैं आयौ। ७ मग लोचन सींचत। ८ पूछि भे पाँडे कथा; पूँछत वंदि कथा। ९ फिरि झोपरी को कहुं सोधु।

राज-समाज = राज्यसामग्री। बाजि = घोड़ा। घने = बहुत से। संभ्रम छायो = भ्रम होने लगा। भौन बिलोकिबे कों = अपना घर खोजने को। मन्न सोचत = मन में तर्क-वितर्क करते हुए। मँझायो = छान डाला।

सुदामा— (कुंडलिया)

'देव-नगर कै जच्छपुर, हौं भटको कित आय?
नाम कहा यहि नगर को, सो न कहौ समुझाय।
सो न कहौ समुझाय, नगर-बासी तुम कैसे?
पथिक जहाँ संभ्रमहिं, तहाँ[१] के लोग अनैसे।'
'लोग अनैसे नाहिं लखौ द्विजदेव नगर कै।
कृपा करी हरिदेव, दियौ है देव-नगर कै'॥७२॥

देव-नगर = स्वर्ग। जच्छपुर = कुबेर का नगर (अलकापुरी)। कित = कहाँ। सो = वह। संभ्रमहिं = भटकते हैं। अनैसे = खोटे, बुरे। लखौ द्विजदेव नगर कै = ब्राह्मण देवता, नगर को देखो। हरिदेव = श्रीकृष्ण। कै दियो है = बना दिया है।

छंद—कुंडलिया (दोहा + रोला)। रोला के प्रत्येक चरण में ११, १३ के विराम से २४ मात्राएँ और चरणांत में प्रायः दो गुरु रहते हैं।

(कबित्त)

सुंदर[२] महल मनि-मानिक जटित अति,
सुबरन सूरज-प्रकास मानौ ह्वै रह्यौ।
देखत सुदामाजू कों नगर के लोग धाए,
भेटे अकुलाय जोई सोई पाय छ्वै रह्यौ॥
बाँभनी के भूषन बिबिध बिधि[३] देखि कह्यौ,
जैहौं हौं निकासौ सो[४] तमासौ जग ह्वै रह्यौ।
ऐसी दसा फिरी[५] जब द्वारिका-दरस पायौ,
द्वारिका तें सरस सुदामा-पुर ह्वै रह्यौ॥७३॥

पाठांतर—१ भटकत हम अति फिरैं यहाँ। २ सोधु। ३ बिधि पट-भूषन'। ४ तापै तन हो का सोहो। ५ दया करी।

मानिक=लाल। ज्वै रह्यो=उदित है। ज्वै रह्यो=देख रहा है। सरस=बढ़कर।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, उदात्त।

(दोहा)

कनक-दंड कर मैं लिये, द्वारपाल हैं द्वार।
जाय दिखायौ सबनि लै, 'या है महल तुम्हार' ॥७४॥

कनक=सोना। सबनि लै=सबने ले जाकर।

कही सुदामा 'हँसत हौ, ह्वै करि परम प्रबीन।
कुटी दिखावहु मोहिं वह जहाँ बाँभनी दीन' ॥७५॥
द्वारपाल सों तिन कही 'कहि पठवहु यह गाथ।
आए विप्र महाबली, देखहु होहु सनाथ' ॥७६॥

सनाथ होहु=कृतकृत्य हो जाओ।

सुनत चली आनंदजुत, सब सखियन लै संग।
नूपुर किंकिनि दुंदुभी, मनहुँ काम-चतुरंग ॥७७॥

नूपुर=पायजेब। किंकिन=करधनी। दुंदुभी=नगाड़ा। काम-चतुरंग=कामदेव की सेना।

कही बाँभनी आयकै, 'यहै कंत निज गेह।
श्रीजदुपति तिहुँ लोक मैं, कीन्हौ प्रगट सनेह' ॥७८॥

कंत=पति। गेह=(सं०) घर।

सुदामा—

हमैं कंत तुम जनि कहौ, बोलौ बचन सँभारि।
इहैं कुटी मेरी हती, दीन बापुरी नारि ॥७९॥

जनि=मत, नहीं। हती=थी। बापुरी=बेचारी।

स्त्री—

मैं तो नारि तिहारियै, सुधि सँभारिये कंत।
प्रभुता सुंदरता दई, अद्भुत श्रीभगवंत ॥८०॥

तिहारियै=आपकी ही। सुधि सँभारिये=होश में आइए।

सुदामा— (कवित्त)

टूटी-सी मड़ैया मेरी परी हुती याही ठौर,
तामैं परो दुख्ख काटौं कहाँ हेम-धाम री।
जेवर जराऊ तुम साजे प्रति अंग-अंग,
सखी सोहैं संग वह छूछी हुती छाम री।
तुम तौ पटंवर री ओढ़े हौ किनारीदार,
सारी जरतारी, वह ओढ़े कारी कामरी।
मेरी वा पँडाइन तिहारी अनुहार ही पै,
विपदा सताई वह पाई कहाँ पामरी ? ।।८१।।

मड़ैया=झोपड़ी। परी हुती=बनी थी। दुख्ख काटौं=दुःख के दिन व्यतीत करता था। हेम-धाम=सोने का महल। जराऊ=जिसमें हीरे आदि जड़े हों। साजे=पहने। छूछी हुती=(आभूषणों से) हीन थी। छाम=(सं० क्षाम) दुबली-पतली। पटंवर=रेशमी वस्त्र। जरतारी सारी=सलमा सितारे का काम की हुई साड़ी। अनुहार=एक रूप, समान। बिपदा-सताई=दुःख की मारी। पामरी=रेशमी ओढ़ना।

ठाढ़ी ह्वै पँडाइन कहत मंजु भाइन सौं,
'प्यारे परौं पाइन तिहारोई जु घर है।
आए चलि हरौं श्रम, कीन्हौ तुम भूरि दुख,
दारिद गमायौ यौं हँसत गह्यो करु है॥
रिद्धि-सिद्धि दासी करि दीन्ही अबिनासी कृस्न,
पूरन प्रकासी, कामधेनु कोटि वरु है।
चलौ पति भूलौं मति तुम्हैं दीन्ही जदुपति,
संपति सो लीजिये समेत सुरतरु है' ।।८२।।

पँडाइन=पाँडे (सुदामा) की स्त्री। भाइन सौं=भावों से। पाइन=पैरों में। हरौं श्रम=थकावट दूर करूँ। भूरि=बहुत। करु=हाथ। मति=नहीं।

(दोहा)

समुझायो निज कंत कों, मुदित गई लै गेह।
अन्हवायो तुरतहिं उबटि, सुचि सुगध सों देह ॥८३॥

अन्हवायो = स्नान कराया । उबटि = उबटन लगाकर ।

पूज्यो अधिक सनेह सों, सिंहासन बैठाय।
सुचि सुगंध अंबर रचे, बर भूषन पहिराय ॥८४॥

अंबर रचे = वस्त्र पहिपाए।

सीतल जल अँचवायकै, पानदान धरि पान।
धर्यो आय आगे तुरत, छवि रबि-प्रभा समान ॥८५॥

अँचवायकै = हाथ-मुँह धुलाकर । पानदान = पनोटा ।

करहिं चौंर चहुँ ओर तें, रंभादिक सब नारि।
पतिव्रता अति प्रेम सों, ठाढ़ी करै बयारि ॥८६॥

चौंर = (सं० चमर) । रंभादिक = घृताची, मेनका, रंभा, उर्वशी, तिलोत्तमा और मंजुघोषा ये ६ स्वर्ग की प्रधान अप्सराएँ हैं । बयारि करै = पंखा झलती है ।

स्वेत छत्र की छाँह मैं, राजत सक्र-समान।
बाहन गज रथ तुरँग बर, अरु अनेक सुभ जान ॥८७॥

स्वेत छत्र = उज्ज्वल छत्र (राजाओं का छत्र उज्ज्वल होता है) । सक्र = इंद्र । वाहन = सवारी । तुरंग = घोड़ा । सुभ जान = सुंदर रथ ।

कामधेनु सुरतरु सहित, दीन्हीं श्रीबलवीर।
जानि परी[1] गुरुबंधु हरि, हरि लीन्ही सब पीर ॥८८॥

बलबीर = श्रीकृष्ण । पीर = क्लेश ।

बिबिध भाँति सेवा करी, सुधा पियायो बाम।
अति बिनीत मृदु बचन कहि, 'सब पूरो मन काम' ॥८९॥

सुधा = जल, पानी । वाम = स्त्री । काम = कामना, इच्छा ।

पाठांतर—१ पीर ।

लै आयसु तिय न्हाइ करि, सुचि सुगंध सब लाइ।
पूजी गौरि सोहाग-हित, प्रीति सहित सुख पाइ ॥६०॥

सोहाग = (सौभाग्य) अहिवात। हित=लिए।

षटरस चारि प्रकार के, भोजन रचे बनाय।
कंचन-थार मँगायकै, ता मैं धर्‍यो रचाय ॥६१॥

षटरस = छह रस (मिष्ट, अम्ल, लवण, कटु, कषाय, तिक्त)। चार प्रकार के भोजन = चर्व्य, चोष्य, लेह्य, पेय। बनाय रचे = सावधानी से बनाए। रचाय धर्‍यो=रचरचकर रखा, विधिपूर्वक सजाया।

चंदन-चौकी डारिकै, दासी परम सुजानि।
रतन-जटित भाजन-कनक, भरि गंगा-जल आनि ॥६२॥

डारिकै = बिछाकर। भाजन-कनक = सोने का पात्र।

कूजा कंचन रतनजुत, सुचि सुगंध जल पूरि।
रच्छाधान समेत सो, जल-प्रकास भर-पूरि ॥६३॥

कूजा = छोटा सा जलपात्र। रच्छाधान = (रक्षा + आधान = धारण करनेवाला) पात्र रखने का आधार।

रतन-जटित पीढ़ा-कनक, धर्‍यो जु बैठन-काम।
मरकत-मनि चौकी धरी, कछुक दूर छवि-धाम ॥६४॥

पीढ़ा = बैठने का पटरा। काम = लिए। मरकत मनि = पन्ना।

चौकी लई मँगायकै, पग धोवन को पाथ।
मनि-पादुका बिचित्र अति, धरी सलिल के साथ ॥६५॥

पाथ=जल। पादुका = खड़ाऊँ। सलिल = जल।

'चलिये भोजन करन कों', कह दासी मृदु भाखि।
उठे 'कृस्न' सानंद कहि, 'धन्य धन्य हरि साखि' ॥६६॥

मृदु भाखि = नम्र वचन कहकर। साखि = साक्षी।

बसन उतारे जायकै, धोवत चरन-सरोज।
चौकी पै छवि देत यौं, जनु तनु धरे मनोज ॥६७॥

बसन = वस्त्र। सरोज = कमल। मनोज = कामदेव।

पहिरि पादुका बिप्र जव, पीढ़ा बैठे जाय।
रति तें अति छबि-आगरी, पति सों हँसि मुसकाय ॥९८॥

रति = कामदेव की स्त्री। आगरी = बढ़कर।

विविध भाँति भोजन धरे, ब्यंजन चारि प्रकार।
जोरी पछिऔरी सकल, प्रथम कहे नहिं पार ॥९९॥

जोरी = एकत्र की। पछिऔरी = मीठा पकवान (पीछे से परोसी जानेवाली वस्तुएँ)।

'हरिहि समपौं कंत अब', कही मंद हँसि वाम।
करि घंटा को नाद त्यों हरि समर्पि लिय नाम ॥१००॥

हरिहि समपौं = (मुहावरा) भोजन आरंभ करिए। मंद = धीरे से। नाद = शब्द।

अगिन जिमाय बिधान सों, बैस्वदेव करि नेम।
बलि काढ़ी जेंवन लगे, करति पवन तिय प्रेम ॥१०१॥

अगिन जिमाय = अग्नि में आहुति देकर। बिधान = तरीका। बैस्वदेव करि = बलि वैश्वदेव करके, 'विश्वेदेवा' को जो बलि दी जाती है उसे 'बलि वैश्वदेव' कहते हैं। बलि = गो-ग्रास। पवन करति = पंखा झलती है। प्रेम = प्रेमपूर्वक।

बार-बार पूछति यहै, 'लीजै जो रुचि होय।
कृस्न-कृपा पूरन सबै, अबै परोसौं सोय' ॥१०२॥

रुचि = इच्छा।

जेंइ चुके अचवन लगे, करन गए बिश्राम।
रतन-जटित पलका[1]-कनक, बुनो सुरेसम दाम ॥१०३॥

बिश्राम = आराम। दाम = डोर।

ललित बिछौना बिरचिकै, पावन कसिकै डोरि।
राखे बसन सुसेवकनि, रुचिर अतर सों बोरि ॥१०४॥

पाठांतर—१ पाटी।

ललित = सुंदर। पावन कसिकै डोरि = शय्या के चारो पावों में बिछौने की डोर बाँधकर। अम्बर = इत्र। बोरि राखे = डुबो कर रखा।

पानदान नेरे धस्यो, भरि बीरी छवि-धाम।
चरन धोय पौढ़न लगे, करन हेत बिश्राम ॥१०५॥

नेरे = (सं० निकट) पास। बीरी = पान की खिल्ली। चरन धोय पौढ़न लगे = भोजन के बाद पैर धोकर लेटना नियम है।

कोउ चँवर कोउ बीजना, कोउ सेवत पद चारु।
अति विचित्र भूषन सजे, गजमोतिन के हारु ॥१०६॥

हारु = माला। गजमोती = (सं० गजमुक्ता) बड़े मोती।

करि सिँगार पिय पै गई, पान खाति मुसक्याति।
'कहौ कथा सब आदि तें, किमि दीन्ही यह भाँति' ॥१०७॥

भाँति = ऐश्वर्य।

कही कथा सब आदि तें, राह चले की पीर।
सोवत जिमि ठाढ़ो कियो, नदी गोमती-तीर ॥१०८॥

गए द्वार जिहि भाँति सों, सो सब करी बखान।
'कहि न जाय मुख लाख सों, कृस्न मिले ज्यों आन ।१०९।

बखान करी = कहा, वर्णन किया। आन = आकर।

कर गहि भीतर लै गए, जहाँ सकल रनिवास।
पग-धोवन कों आप ही, बैठे रमा-निवास ॥११०॥

रनिवास = अंत:पुर। रमानिवास = लक्ष्मीपति, श्रीकृष्ण।

देखि चरन मेरे चल्यो, प्रभु नयनन तें बारि।
ताही सों धोए चरन, देखि चकित नर-नारि' ॥१११॥

बहुरि कही श्रीकृस्न जिमि, तंदुल लीन्हे आप।
भेटे हृदय लगायकै, मेटे स्रम संताप ॥११२॥

वहुरि कही जेवनार सब, जिमि कीन्ही बहु भाँति।
'वरनि कहाँ लगि हौं कहौं, सब व्यंजन की पाँति ॥११३॥
दिन-प्रति अधिक सनेह सौं, सपन दिखायो मोहिं।
सो देख्यो परतच्छ ही, सपन न निसफल होहिं' ॥११४॥
बरनि कथा यहि विधि सबै कह्यो आपनो मोह।
'कृस्न कृपानिधि भगत-हित, चिदानंद-संदोह' ॥११५॥

मोह = गलतफहमी, झूठा भ्रम। भगत-हित = भक्तों के हितुआ। चिदानंद = (चित् + आनंद)। संदोह = समूह।

(कवित्त)

साजे सब साजबाज बाजि गज राजत हैं,
बिबिध रुचिर रथ पालकी बहल हैं।
रतन-जटित सुभ सिंहासन बैठिवे कौं,
चौक प्रति कामधेनु कल्पद्रू लहलहैं।
देखि-देखि भूषन बसन दासि-दासन के,
सुख पाकसासन के लागत सहल हैं।
संपति सुदामाजू को जहाँ लौं दई है प्रभु,
कहाँ लौं गनाऊँ[1] जहाँ कंचन[2] महल हैं ॥११६॥

साजबाज = साज-सामान। बाजि = घोड़ा। बहल = छतदार बैलगाड़ी। चौक-प्रति = प्रत्येक आँगन में। कल्पद्रू = कल्पवृक्ष। लहलहैं = हरे भरे हो रहे हैं। पाकसासन = इंद्र। सहल = साधारण। लौं = तक।

बाजिसाला गजसाला दीन्हें गजराज खरे[3],
ब्रजराज महाराज राजन समान के।
बानक बिबिध बने मंदिर-कनक सोहैं[4],
मनि जरे मन मोहैं सब[5] देवतान के।

पाठांतर—१ बखानौं। २ सुर-नगर। ३ बने गजराज पालकी समाज ऐसे दीन्हे। ४ बिबिध सुथान बने झंपत सुकंचन के। ५ मुदित उदित मन मोहैं।

हीरा, लाल ललित झरोखन मैं झलकत[1],
झिमझिम झूमक झूलै हैं[2] मुकतान के।
जानो नहिं विपति सुदामाजू की कहाँ गई,
देखिये विधान जदुपतिजू के दान के ॥११७॥

वाजिसाला = घुड़सार, अस्तबल। गजसाला = हथसार। ब्रजराज = श्रीकृष्ण। वानक = ढंग। लाल = माणिक्य। झिमझिम = धीरे-धीरे। झूमक = गुच्छे। विधान = तरीका, ढंग।

सुदामा—

'कहूँ सपनेहूँ सुबरन के महल होते,
पौरि मनि-मंडप कलस कब धरते?
रतन-जटित बर सिंहासन बैठिवे को,
खरे ह्वै खवास मो पै चौंर कब ढरते?'
देखि राज-सामा निज बामा सों सुदामा कहैं,
'कब ये भँडार मेरे रतनन भरते?
जो पै पतिब्रता तू न देती उपदेस तो पै,
एती कृपा मो पै द्वारिकेस कब करते?' ॥११८॥

पौरि = द्वार। खवास = (फा०) खास खिदमतगार। राज-सामा = राजविभव। भँडार = खजाना। द्वारिकेस = श्रीकृष्ण।

(दोहा)

उठे पहिरि अंबर रुचिर, सिंहासन पर आय।
बैठे प्रभुता देखिकै, सुरपति रह्यो लजाय ॥११९॥

अंबर = वस्त्र।

(सवैया)

कै वह टूटी-सी छानी हती, कहँ कंचन के सब धाम सुहावत।
कै पग मैं पनही न हती, कहँ लै गजराजहु ठाढ़े महावत।

पाठांतर—१ मोती माल लटकैं झरोखन मैं। २ झूमि झूमि झूमका रहे हैं।

भूमि कठोर पै रात कटै, कहँ कोमल सेज पै नींद न आवत।
कै जुरतो नहिं कोदो सवाँ, प्रभु के परताप तें दाख न भावत ॥१२०॥

कै=या। तो=कहाँ तो। हती=थी। महावत=हाथीवान। सेज=(सं० शय्या)।

छंद—किरीट सवैया (८ भगण)

(दोहा)

धन्य धन्य जदुवंस-मनि, दीनन पै अनुकूल।
धन्य सुदामा सहित तिय, कहि बरषहिं सुर फूल ॥१२१॥

अनुकूल=प्रसन्न, दयालु।

* इति श्रीसुदामाचरित समाप्त *

परिशिष्ट

('नरोत्तमदास के 'सुदामाचरित' में कुल १२१ ही छंद बहुधा मिलते हैं। विभिन्न प्रतियों और स्थानों पर जो अधिक छंद पाए जाते हैं, यहाँ प्रसंगनिर्देशपूर्वक उनका उल्लेख किया जाता है।]

मंगलाचरण— (सोरठा) [पद्य-संख्या १, २, ३ के स्थान पर]

गनपति कृपा-निधान, विद्या बुद्धि विवेक चित।
देहु मोहिं बरदान, प्रेम-सहित हरि-गुन कहौं ॥१॥

चित = चित्त में। 'देहु' का अन्वय पहली पंक्ति से भी है।

हरि-चरित्र बहु भाय, सेष गनेस न कहि सकैं।
प्रेम-सहित चित लाय, सुनौ सुदामा की कथा ॥२॥

भाय = (भाव) प्रकार। लाय = लगाकर।

सुदामा— (सवैया) [१४ के बाद]

चंद को मित्र चकोर सदा तेहि भोजन आगि बिरंचि नै दीनो।
पंकज को हितू द्यौसपती हिम जारत ताहि यहै प्रन लीनो।
कर्म बली सुनु री अबला, नित संग रहै सबके पुर तीनो।
लच्छिमीनाथ सखा जिनके तिनके घर बास दरिद्र नै कीनो ॥३॥

बिरंचि = ब्रह्मा। द्यौसपति = (सं० दिवसपति) सूर्य। हिम = पाला। बास = डेरा। अलंकार—विकस्वर।

सुदामा— (दोहा) [२० के बाद]

मान बड़ाई प्रेम-रस, गरुवापन औ नेहु।
ये पाँचौ तबही गए, जबै कहो कछु देहु ॥४॥

गरुवापन = गंभीरता।

सुदामा— (कवित्त) [२३ के बाद]

स्याम सों मिताई मैं तो जब तें जताई यासों,
तबहीं तें मेरे पाछे काढ़िबे कों परी है।

याको हँसि बोले हौं न जानत हौं और दुख,
कालिका-निकाई राम, वहै क्रोध भरी है।
सेवा छाँडि दई आगे लठिया लै ठाढ़ी भई,
हरि पै चलाइबे की कथा कंठ करी है।
बैठत उठत न्हात खात सोए आधी रात,
ऐसी सावधान ज्यों घड़ावल की घरी है ॥५॥

काढ़िवे कों = घर से निकाल कर भेजने के लिए। कालिका······भरी है = काली की भाँति देखने में तो सुंदर है पर उसी प्रकार क्रोध से भरी हुई भी है। पै = पास। चलाइवे की = भेजने की। कंठ करी है = याद कर ली है (बका करती है)। न्हात = स्नान करते हुए। घड़ावल की घरी = समय-सूचक यंत्र-विशेष (जलपूर्ण नाँद में छेददार कटोरी डाल दी जाती थी, जो ठीक १ घड़ी में भरकर डूब जाती थी। कटोरी के डूबते ही घंटा बजाया जाता था)। घड़ावल = घंटा बजानेवाला। ऐसी···घरी है = जैसे घड़ावल की घड़ी ठीक समय पर बजती है वैसे ही यह हर समय मुझे द्वारका जाने के लिए टोंका करती है।

द्वारका-वर्णन— (कवित्त) [३० के बाद]

मंगल सँगीत धाम-धाम मैं पुनीत जहाँ,
नाचैं बारबधू देवनारि-अनुहारिका।
घंटन के नाद कहूँ बाजन के छाइ रहे,
कहूँ पिक केकी पढ़ैं सुक और सारिका।
रतनन ठाट हाट-बाटन मैं देखियत
घूमैं अस्व गज रथपती नर-नारिका।
दसो दिसा भीर द्विज धरत न धीर मन,
उठति है पीर लखि बलबीर-द्वारिका ॥६॥

बारबधू = वेश्या। देवनारि = अप्सराएं। अनुहारिका = (किसी के) समान कार्य करनेवाली। पिक = कोयल। केकी = मोर। सारिका = मैना। हाट = बाजार। बाट = रास्ता। अस्व = घोड़ा। नारिका = स्त्री।

तंदुल-भक्षण — (सवैया) [४८ के बाद]

तंदुल माँगत मोहन, बिप्र सकोच तें देत नहीं अभिलाखे।
'हैं नहिं पास कछू' कहिकै तिहि गोपि घनी बिधि काँखि मैं राखे।
सो लखि दीनदयाल 'उतै यहै चोरी करी तुम' यों हँसि भाखे।
खोलिकै पोट अछोट मुठी गिरिधारन चाउर चाय सों चाखे ॥७॥

तंदुल=चावल। अभिलाखे=अभिलाषयुक्त। गोपि=छिपाकर। घनी विधि=भली भाँति। पोट=पोटली। अछोट=छोटी नहीं (भरपूर)।

(सवैया) [५५ के बाद]

हाथ गह्यो प्रभु को कमला कहै 'नाथ कहा तुमनै चित धारी।
तंदुल खाय मुठी दुइ, दीन कियो तुमने दुइ लोक-बिहारी।
खाय मुठी तिसरी अब नाथ कहाँ निज बास की आस बिचारी।
रंकहि आप समान कियो तुम चाहत आपहि होन भिखारी' ॥८॥

कमला=लक्ष्मी (रुक्मिणी)। कहा चित धारी=मन में क्या ठानी है। लोक-विहारी=लोक में विहार करनेवाला, लोक का स्वामी। बास=रहना। रंक=गरीब (सुदामा)।

श्रीकृष्ण— (सवैया)

क्यों रस मैं बिष बाम, करै अब और न खान दियो इक फंका।
बिप्रहि लोक तृतीय के देत करी तुम क्यों अपने मन संका।
भामिनि मोहिं जिमाय भली बिधि कौन रह्यो जग मैं नर रंका।
लोक कहैं हरि-मित्र दुखी हम पै न सह्यो यह जात कलंका ॥९॥

रस=आनंद। बाम=स्त्री (टेढ़े स्वभाववाली)। भामिनि=(भाने वाली) स्त्री। पै=से। अलंकार—लोकोक्ति (रस में विष करना)।

रुक्मिणी— (सवैया)

भार्गव ह्वै तुम जीति धरा दई बिप्रन कौं अति ही सुख मानो।
बिप्रन काढ़ि दियो तुमकौं पुनि, ता दिन को बिसरो खिसियानो।

सिंधु हटाय करी तुम ठौर द्विजन्म-सुभाव भली विधि जानो।
सो तुम देत द्विजै सब लोक कियो तुमनै अब कौन ठिकानो ॥१०॥

भार्गव=(भृगुवंशी) परशुराम। भार्गव ह्वै तुम जीति धरा दई= तुम्हीं ने परशुरामावतार में ब्राह्मण होकर पृथ्वी जीतकर ब्राह्मणों को दान की (परशुराम ने २१ बार क्षत्रियों से पृथ्वी छीनकर ब्राह्मणों को दी थी)। विप्रन······खिसियानो=ब्राह्मणों ने ही जब तुम्हें निकाल दिया उस दिन सब शेखी भूल गई (परशुराम ने जब कश्यप को पृथ्वी दी तब उन्होंने कहा कि 'आपने समस्त पृथ्वी दान कर दी है अब आप पृथ्वी में नहीं रह सकते'। तब परशुराम ने समुद्र को हटाकर उसमें अपना वासस्थल बनाया)। काढ़ना=निकाल देना। खिसियाना=लज्जित होने पर क्रुद्ध हो जाना। द्विजन्म=ब्राह्मण। कौन ठिकानो कियो=रहने का क्या प्रबंध किया है।

श्रीकृष्ण— (सवैया)

भामिनि, देहुँ द्विजै सब लोक तजौं हठ मेरे यहै मन भाई।
लोक चतुर्दस को सुख-संपति लागति विप्र विना दुखदाई।
जाय बसौं उनके गृह मैं करिहौं द्विज-दंपति की सेवकाई।
तो मन माहिं रुचै न रुचै सो रुचै हमैं तो वह ठौर सदाई ॥११॥

लोक चतुर्दस=चौदहो भुवन। दंपति=स्त्री-पुरुष। रुचै=अच्छा लगे।

अलंकार—अनुज्ञा।

रुक्मिणी— (सवैया)

नेकु न कानि करी द्विज पै नृग से नृप कों नरकी करि डारो।
साप दियो पुनि संकर कों अब लौं मख तें सिव-भाग बिसारो।
विप्रन फेरि बिजै-जय कों तुम देखत घोर कुयोनि मैं डारो।
सो तुम जानि सबै गुन-दोष करौ फिरिहू द्विज को पतियारो ॥१२॥

नेकु=थोड़ा-सा। कानि=मर्यादा। द्विज पै=ब्राह्मण से। नरकी= नरकवासी। राजा नृग=इक्ष्वाकुवंशी राजा नृग। ये बड़े दानी थे, ये नित्य असंख्य गौओं का दान करते थे। एक दिन दैवात् एक संकल्पित गौ आकर

असंकल्पित गौओं में मिल गई और दूसरे दिन वह दुबारा संकल्पी गई। जिन दो ब्राह्मणों को दान मिला था वे झगड़ने लगे। अंत में वे राजा के पास आए। वे ब्राह्मण बदले में लाखो गौएँ तथा रुपये देने पर भी उस गौ को किसी एक के अधिकार में कर देने के लिए राजी नहीं हुए और गाय छोड़कर चले गए। इस अनजाने पाप के लिए राजा नृग को गिरगिटान होना पड़ा और फिर श्रीकृष्ण ने उनका उद्धार किया। यदि ब्राह्मण मान गए होते तो राजा नृग को यह दंड न भोगना पड़ता। साप......बिसारो= ब्राह्मणों के शाप से शिवजी को अब तक यज्ञ-भाग नहीं मिलता (जब दक्ष प्रजापति हुए तो एक बार उन्हें ब्रह्मा के यहाँ सभा में जाना पड़ा। सभी देवता वहाँ उपस्थित थे। उनके आने पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश तो नहीं उठे पर और सब देवताओं ने अभ्युत्थान दिया। ब्रह्मा को बड़ा-बूढ़ा और विष्णु को आराध्यदेव समझकर दक्ष ने उनके न उठने पर तो कुछ बुरा नहीं माना, पर शिवजी जो दक्ष के दामाद थे न उठे, इसे दक्ष ने अपना अपमान समझा और उन्हें शाप दिया कि अब से तुम्हें यज्ञ-भाग न मिलेगा। तभी से शिवजी को यज्ञ में भाग नहीं मिलता। दक्ष ब्राह्मण ही थे)। मख=(सं०) यज्ञ। तुम देखत=तुम्हारे सामने। बिजै-जय कों घोर कुयोनि में डारो=जय और विजय भगवान् के द्वारपाल थे, एक बार इन दोनो ने सनक-सनंदनादि को भीतर जाने से रोका। इसपर ऋषियों ने शाप दिया कि दैत्य हो जाओ। वे बेचारे तीन जन्म तक दैत्य हुए। पतियारो=(सं० प्रत्यय) विश्वास।

[५८ के बाद]

सुदामा का सत्कार— (दोहा)

करि अचमन मुख धोयकै, पान खाय सुख पाय।
पौढ़े पलका पै तबै कृस्न पलोटैं पाय ॥१३॥

पलका=(पल्यंक) खाट। पलोटैं पाय=पैर दबाते हैं।

नित नित सब द्वारावती, दिखराई प्रभु आप।
भले बाग अनुराग सह, जहाँ न ब्यापै ताप ॥१४॥

द्वारावती=द्वारका। ताप=गरमी (कष्ट)।

परम कृपा दिन-दिन करी, कृपानाथ जदुराय।
मित्र-भावना विस्तरी, दूनो आदर-भाय ॥१५॥

बिस्तरी = फैलाई। भाय = भाव।

वस्त्रादिक बहु भाँति के, पहिराए सुखदाय।
करि प्रनाम कर जोरिकै, बोले त्रिभुवनराय ॥१६॥

श्रीकृष्ण— (सवैया)

धन्य कहा कहिये द्विजजू तुम सौं जग कौन उदार प्रबीनो।
पाछिलो प्रीति निवाही भलो विधि दोष निवारिकै रोष न कीनो।
हौं द्विज के चरनोदक हेतु अजन्म कहायकै जन्म सु लीनो।
आवन कै निज पावन सों यहाँ, मों सो अपावन पावन कीनो ॥१७॥

पाछिली = (पिछली) पहले की। निवारिकै = हटाकर। अजन्म = अजन्मा (ईश्वर)। आवन कै = आकर। पावन सों = पैरों से। पावन = पवित्र।

अलंकार—यमक।

(दोहा)

गोपुर लौं पहुँचायकै, फिरे सकल दरबार।
मित्र-वियोगी कृस्न के, नेत्र चली जल-धार ॥१८॥

गोपुर = शहरपनाह का सदर फाटक। दरबार = दरबारी लोग।

प्रीति आरसी बिमल है, सब कोउ सेवै जानि।
कपट-मोरचा लगत ही, होत दरस की हानि ॥१९॥

आरसी = (सं० आदर्श, ऐना, शीशा। मोरचा = जंग (मलिनता)।

'इतनो मम आदर कियो, दियो न कछु मोहिं स्याम'।
या प्रकार सोचत चल्यो, विप्र आपने धाम ॥२०॥

सुदामा का प्रस्थान— (दोहा) [६२ के बाद]

इन सोचन सोचत चले, हरि को अति दुख मानि।
घर की सुधि बँभनै नहीं, दीन्ही सुख की खानि ॥२१॥

हरि…मानि = श्रीकृष्ण के व्यवहार को बुरा मानकर।

सुदामा— (दोहा) [६७ के बाद]

मोहिं मिले वा भाँति सों, पग धोए करि प्रीति।
चलती बिरियाँ यह करी, देखो उनको रीति ॥२२॥

बिरियाँ = वेर, समय।

सुदामा— (कवित्त) [७० के बाद]

वेई सुरतरु प्रफुलित फुलवारिन मैं,
वेई सरबर हंस बोलन-मिलन कों।
वेई हेम-हिरन दिसान दहलीजन मैं,
वेई गजराज हय गरज पिलन कों।
द्वार-द्वार छरी लिये द्वार-पौरिया हैं खरे,
बोलत मरोर बरजोर त्यों झिलन कों।
द्वारिका तें चल्यौं भूलि द्वारिका ही आयौं नाथ,
माँगियो न मो पै चारि चाउर गिलन कों ॥२३॥

सुरतरु = कल्पवृक्ष। सरबर = सुंदर तालाव। हेम = सोना। दहलीज = (फा०) बैठक। गरज पिलन कों = गर्जन कर घुसने के लिए। पौरिया = द्वारपाल। मरोर = शान से। बरजोर = जबरदस्त। झिलन कों = निकाल देने के लिए। गिलन कों = खाने के लिए।

(दोहा)

जित-जित बाँभन जात है, तित-तित के नर-नारि।
पाय गहत हैं विप्र के, बहु पूँछत सुभकारि ॥२४॥

सुभकारि = कुशल-प्रश्न।

ग्रामवासी—गए हुते द्वारावती, मिलिबे जदु-कुल-राय।
दीन्हो कह प्रभु नै तुम्हैं, हमकों देहु दिखाय ॥२५॥

मिलिबे = मिलने के लिए।

नगरवासी—विप्र सुदामा को नगर, है यह चतुर सुजान।
करी कृपा यह कृस्न नै, दीन्हो द्विज कों दान ॥२६॥

देखै कहा गोपाल की, गुप्त-दसा द्विज दीन।
जौ लौं प्रगट भयो नहीं, तौ लौं रह्यो मलान ॥२७॥*

गुप्त दसा = गुप्त अवस्था। मलीन = उदास।

सुदामा— (कवित्त)

जगर-मगर जोति छाय रही चहूँ ओर,
अगर-बगर हाथी-घोरन को सोर है।
चौपर को बनो है बजार पुनि सोमन के,
महल दुकान की कतार चहुँ ओर है।
भोर-भार धकापेल चहूँ दिसि देखियत
द्वारिका तें दूनो यहाँ प्यादन को जोर है।
रहिबे को ठाम है न, काहू सों पिछान मेरी,
विन जाने वसे कोऊ हाड़ मेरे तोरहै ॥२८॥

जगर-मगर = चमाचम। अगर = (स० आगार) मकान। बगर = घर। चौपर को बाजार = चौक। धकापेल = धक्कमधक्का। ठाम = (स्थान) जगह। पिछान = पहचान। वसे = वसने से, रहने से। हाड़ मेरे तोरहै = मेरी हड्डियाँ तोड़ डालेगा।

फूटी एक थारी बिन टोटनी की झारी हुती,
बाँस की पिटारी औ कँथारी हुती टाट की।
वेंटे बिन छुरी औ कमंडलु सौ टूक वहो,
फटे हुते पावौ पाटो टूटी एक खाट की।
पथरौटा, काठ को कठौता कहूँ दीसै नाहिं,
पीतर को लोटो हो कटोरो हो न बाटकी।
कामरी फटी-सी हुती डोंडन की माला ताक,
गोमती की माटी की न सुद्ध कहूँ माटकी ॥२९॥

---

* यह दोहा एक प्रति में इस प्रकार है—

कहा कहौं गोपाल की, विहित दसा, द्विज दीन।
जौ लौं परघट ना भई, तौ लौं रह्यो मलीन ॥

टोटनी = टोंटी । कँथारी = (कंथा) कथरी । हुती = थी । पावौ = पावे, गोड़े । पथरौटा = बड़ी कूँड़ी । दीसँ नाहि = देख नहीं पड़ता । वाटकी = बटुई । डोंडा = किसी भी वृक्ष या लता का बड़ी लायची के आकार का फल । शुद्ध = ठीक, ठिकाने की ।

चौतरा उजारि कोऊ चामीकर-धाम कियो,
छानी तौ उपारि डारी छाई चित्रसारी जू।
जो हौं होतो घर तो पै काहे को उठन देतो,
होनहार ऐसी, खोटी दसाई हमारी जू।
हौं तो हो न, काहू लोभ लाहु को दिखायो वाहि,
महल उठाय लयो हाय ! सुखागारी जू।
लामी लूमवारीं दुख्ख-भूख कों दलनहारी,
गैया वनवारी काहू सोऊ मारि डारी जू ॥३०॥

उजारि = खोदकर । चामीकर = सोना । चित्रसारी = चित्रशाला । घर उठन देतो = (मु०) घर बनने देता । हो न = नहीं था । काहू = किसी ने । लाहु = (लाभ) । सुखागारी = सुख का घर । लामी = लंबी । लूमवारी = पूँछवाली । दलनहारी = नाश करनेवाली । बनवारी = वनवाली ।

सुदामा— (कवित्त) [८२ के बाद]

चंपे की पिराका है कि सोने की सिराका है कि,
संपा ही को भाग है कि कला कोऊ न्यारी है।
सुकवि नरोत्तम कै भूतल को भूषन है,
कै चकोरपूषन कि पुन्य को उजारी है।
मेरी अभिलाषा है कि कामतरु शाखा है कि,
गीरवान भाषा है कि सुधाकद क्यारी है।
राग है कि रूप है कि रस है कि जस है कि,
तन है कि मन है कि प्रान है कि प्यारी है ॥३१॥

पिराका = कली। सिराका = (शलाका) सलाई। संपा=बिजली। भाग=अंग। कला = प्रकाशमान ज्योति। न्यारी=अन्य (विचित्र)। चकोर-पूषन = चकोर को पुष्टि देनेवाला, चंद्र। गीरवान=देवता। कंद = जड़। राग = प्रेम। अलंकार—संदेह।

(दोहा) [अंत में]

बिप्र सुदामा सहित-तिय, उमगे परमानंद।
नित प्रति-सुमिरन करत हैं, हिय धरि करुनाकंद ॥३२॥

उमगे = प्रसन्न हुए। नितप्रति=प्रतिदिन। करुनाकंद = करुणा की जड़, अत्यंत दयालु।

बिप्र सुदामा की कथा, कहै सुनै चित लाय।
ताकों श्रीजदुबीरपति, निसिदिन रहैं सहाय ॥३३॥

लाय=लगाकर। सहाय = सहायक (रक्षक)।

—·—

LIBRARY
No.........
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS.

वाणी-वितान प्रकाशन
वाणी-वितान
वाराणसी

LIBRARY
No.............
Shri Shri Ma Anandamayee Ashram
BANARAS.